

33 ~~१~~ ४३८

अथ

श्री रामगीता ।

(पदच्छेदान्वयार्थ भावार्थ सहिता)

अनुवादक—

श्री स्वामी रामाश्रम जी,
परमहंस ।

प्रकाशक—

श्रीमान् परमहंस राय [चौधरी] ।
ग्राम—शेरपुर बड़ा, पोष्ट कुड़ेसर,
जिला—गाजीपुर ।

प्रथम बार १००० | सम्वत् १९९४ सन १९३७ | मूल्य— प्रेमपाठ (मनन)

५८८

प्रकाशक का निवेदन ।

प्रिय पाठक मुमुक्षु महानुभावों ! जगन्नियन्ता परब्रह्म परमेश्वर की असीम कृपा से मेरा परम सौभाग्य है कि आज श्रीमान् लोगों की सेवा में ऐसे रामगीता रत्न को समर्पित करता हूँ, यह साधारण रत्न ही नहीं है, वरन् सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति प्रदान करने वाली अक्षयनिधि है। विदित हो कि इस ग्रन्थ के अनुवादक श्री स्वामी जी गंगा किनारे २ विचरते हुए मेरे पुण्यपुंज के प्रभाव से मेरे ग्राम पर आकर दर्शन दिये और उन्होंने अपने दर्शन तथा उपदेशों से यहां की जनता के हृदय के ताप का नाश करते हुए शान्ति प्रदान करने लगे। एक दिन किसी प्रसंग वशात् ऐसा ज्ञात हुआ कि स्वामी जी के एक चरणानुरागी भक्त प्रांत बलिया, पोस्ट मझौवां तथा ग्राम बुलापुर निवासी गया प्रसाद जी मिश्र ने उनकी लिखी हुई आत्मप्रकाश, प्रेम वैराग्यादि वाटिका ज्ञानामृत इत्यादि पुस्तकें लोक-कल्याण निमित्त छपा कर प्रकाशित कर चुके हैं; यह बात श्रवण कर मुझे भी अपने अन्तःकरण की शुद्धि निमित्त कुछ परमार्थ की जिज्ञासा प्रकट हुई, अतएव स्वामी जी से मैंने रामगीता के अनुवाद करने के लिए प्रार्थना की। स्वामी जी ने इस दास पर कृपा कर प्रार्थना स्वीकार की और अनुवाद कर के कृतार्थ किया। इस ग्रन्थ के अवलोकन तथा मनन से यदि मुमुक्षु जनों को थोड़ा भी आनन्द तथा विश्राम मिला, तो मैं अपने को परम भाग्यवान समझूंगा। शुभमित्यलम् ।

आपका—

परमहंसराय (चौधरी)

भूमिका

प्रिय पाठक वृन्द ! इस रामगीता की भूमिका लिख कर इसके महत्त्व को आप लोगों के सामने प्रकाशित करना सूर्य को दीपक दिखाना है। मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ भगवान राम ने श्री लक्ष्मण जी को निमित्त बना अपने प्रिय जीवों के कल्याण के लिए इस गीतामृत का वर्णन किया है। भगवान का यह उपदेश सूत्रवत् है अर्थात् इस रामगीता में श्लोक तो अल्प ही (बासठ) हैं, परन्तु आशय बड़ा गम्भीर तथा गूढ़ है। इसमें वेदान्त की सम्पूर्ण प्रक्रियायें झलक रही हैं प्रशंसनीय विषय यह है कि जो वेदान्त रहस्य के अल्प भी ज्ञाता हों अथवा महान पण्डित हों, सबके लिए अपनी बुद्धि के अनुसार विश्राम मिलता है। पाठको ! यह परिपाटी है कि पुस्तक हाथ में पड़ते ही श्रद्धालु जन पहले भूमिका ढूंढ़ने लगते हैं, अतएव इस रामगीता का कुछ दिग्दर्शन करा देना परमावश्यक है—

इस संसार में सभी प्राणी सुख के ही उपासक हैं अर्थात् सुख की ही इच्छा से सम्पूर्ण कर्म करते हैं। परन्तु सुख की उपलब्धि पुरुषार्थ की प्राप्ति से होती है, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इनको पुरुषार्थ कहते हैं, ये मनुष्य शरीर से ही प्राप्त होता है। इनमें भी अर्थ, धर्म और काम, इन तीन से तो दुख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव ये गौण हैं और मोक्ष से सम्पूर्ण दुःखों के निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है, अतः इसको मुख्य पुरुषार्थ अथवा परम पुरुषार्थ कहते हैं। यह अखिल श्रुति शास्त्रों का सिद्धान्त है कि अर्थादि का साधन कर्म है, परन्तु बिना आत्म ज्ञान के परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे

श्रुतिः-ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। अर्थात् विना आत्मज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती, इत्यादि। जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान को ही श्रुति शास्त्रों में आत्मज्ञान. आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, कैवल्य, निज-स्वरूप, परमगति, परमधाम, त्रिपादि, विभूति इत्यादि नामों से कहा गया है। यदि जोव और ब्रह्म की एकता श्रुति शास्त्रों का सिद्धान्त नहीं माना जायगा, तो वे अप्रमाणिक हो जायंगे। क्योंकि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु जीव हूँ' इस प्रकार का भेदज्ञान तो सभी मनुष्यों को है फिर इसी को श्रुति शास्त्र भी कह कर लोकों का कौन कल्याण करेंगे? यदि इस भेदज्ञान से हो परम सुख की प्राप्ति होती तो सभी जीव सुखी हो जाते, परन्तु इससे तो दुख की ही वृद्धि देखने में आती है, अतएव 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है तथा 'द्वितीया द्वै भयं भवति' अर्थात् ब्रह्म मुझसे भिन्न है, इस द्वैत ज्ञान से निस्सन्देह जन्म-मरण रूप भय की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता रूप ज्ञान की प्राप्ति से महान अर्थ की प्राप्ति तथा भेद ज्ञान से भय रूप अनर्थ की उपलब्धि श्रुति वर्णन करती है। एक समय भगवान राम के सन्निकट, कर्मी, उपासक तथा ज्ञानी बैठे थे और श्री हनुमान जी महाराज के चरण कमलों की सेवा कर रहे थे, इतने ही में अन्तर्यामी भगवान राम समस्त जनों की अभिलाषा जान हनुमान जी से बोले—हनुमान! तू कौन है? अर्थात तू कर्मी है? या भक्त है? अथवा ज्ञानी है? हनुमान जो तुरन्त बोल उठे—देह दृष्टया तु दासोऽहं जीव बुद्ध्या त्वदंशकः। वस्तु तस्तु तदेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥ अर्थात् देह दृष्टि से तो मैं दास हूँ, (क्योंकि यह शरीर प्रत्यक्ष ही सेवा कर रही है), जीव बुद्धि से अर्थात् अन्तःकरण रूप उपाधि से आप का एक अंश हूँ, और

वास्तव में तो मैं ब्रह्म ही हूँ, यह मेरा निश्चय सिद्धान्त है। देखिये यह परम वैष्णव श्री हनुमान जी का अटल सिद्धान्त।

पुर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा और परमात्मा की एकता रूप ज्ञान से ही परमानन्द की प्राप्ति एवम् समस्त दुखों की निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु यह ज्ञान अन्तः करण के शुद्ध तथा स्थिर हुये विना नहीं हो सकता, अतएव चित्त शुद्ध निमित्त पहले पहल अपने वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने की परमावश्यकता है। व्यास जी ने भी ब्रह्म सूत्र में कहा है—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन निष्काम भाव तथा ईश्वरार्पण पूर्वक करके विवेक, वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्म (ज्ञान) की इच्छा करें। यह कथा आत्म पुराण में प्रसिद्ध है कि चित्त शुद्ध रहित तथा वैराग्य हीन कर्म त्यागी कोटि सन्यासियों का इन्द्र ने वध कर दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि चित्त-शुद्धि के बिना कर्म त्याग से लोक तथा परलोक उभय भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः इस रामगीता का यह सिद्धान्त है कि निष्काम कर्म तथा उपासना द्वारा चित्त को शुद्ध एवम् स्थिर करके विवेक आदि साधनों से सम्पन्न होकर सद्गुरु से ज्ञान पाकर मोक्ष की प्राप्ति करले।

पाठकों !

प्रान्त गाजीपुर ग्राम शेरपुर वड़ा निवासी श्रीमान् परमहंस राय (चौधरी) जी ने लोकों के कल्याणार्थ पूर्वक अपने चित्त की शुद्धि निमित्त यह पुस्तक छपा कर प्रकाशित करने के लिये मुझसे प्रार्थना की। उन्होंने विचारा कि और विषयों का प्रचार तो बड़े जोरो से हो ही रहा है, परन्तु जिससे जीवों को परम शान्ति रूप सुख मिलता है, ऐसे वेदान्त विषय का प्रचार न्यून रूप में है। अतः मैं भगवान

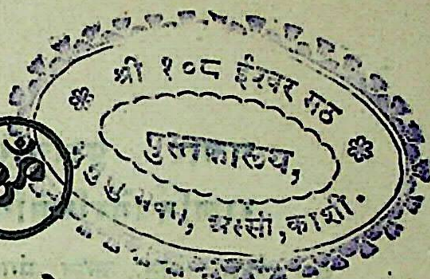
के मुखारविन्द से निकली हुई राम-गीता का ही अनुवाद कराकर अपनी अभिलाषा पूर्ण करूं। सज्जनों ! यद्यपि मैं न तो कोई बुद्धिमान हूँ, न विद्वान, तथापि मैंने सबके आत्मा रूप राम को कृपा तथा राम स्वरुप सन्तो के समागम के प्रभाव से यत् किञ्चित् इस राम-गीता का अभिप्राय अनुवाद द्वारा प्रकट करने का साहस किया। विस्तार भय से इस ग्रन्थ में वेदान्त की बहुत प्रक्रियायों का कथन नहीं किया गया है। इसमें पहले श्लोक; उसके बाद पदच्छेद, फिर अन्वयार्थ. इस प्रकार लिखे गये हैं कि बायें की ओर अन्वय के सहित संस्कृत शब्द और दाहिने प्रत्येक शब्दों के हिन्दी में अर्थ लिखे गये हैं। अर्थ के ठीक-ठीक बैठ जाने के लिये जहां तहां ऊपरी शब्द मिलाये गये हैं। जहां संस्कृत शब्द मिलाये गये है, उनके सामने + इस प्रकार के चिन्ह तथा उसके हिन्दी अर्थ ( ) ऐसे कोष्टों में बन्द कर दिये गये हैं। अन्वयार्थ के बाद भावार्थ लिखा गया है।

आपका—

"राम"



उदारचेता महानुभाव श्री बाबू परमहंस राय (चौधरी)
शेरपुर कलां, गाजीपुर ।

श्री परमात्मने नमः ।

रामगीता ।

मङ्गलाचरण—

नीलोत्पलनिभो रामो लक्ष्मणः कैरवोपमः ।
मानसे राजतां मे तौ बोधवैराग्यविग्रहौ ॥ १ ॥

नीलमणि के समान राम जी की क्रान्ति है, तथा पीत कमल के समान लक्ष्मण जी की । वे दोनों बोध तथा वैराग्य के स्वरूप (राम लक्ष्मण) मेरे हृदय में निवास करें ॥ १ ॥

उपोद्धात *

श्री महादेव उवाच ।

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना
विधाय रामायण कीर्तिमुत्तमाम् ।

* किसी विषय को मन में रख कर उस विषय की सिद्धि के लिये अन्य प्रसंगो के कथन को 'उपोद्घात' कहते हैं । जैसेः–किसी

चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो
राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥ १ ॥

पदच्छेद:—ततः, जगत्, मंगल, मंगलात्मना, विधाय, रामायण:, कीर्तिम्, उत्तमाम् । चचार, पूर्वाचरितम्, रघूत्तमः, राजर्षिवर्यैः, अभिसेवितम्, यथा ॥ १ ॥

अन्वय:—	अर्थ—
महादेव उवाच	=महादेव जी बोले
ततः	=तदन्तर
रघूत्तमः	=रघुकुल में श्रेष्ठ (श्रीरामचन्द्रजी)
जगन्मंगलमंगलात्मना	=संसार का मंगल करने वाला मंगलमय शरीर से
रामायण कीर्तिम् उत्तमाम्	=रामायण रूप उत्तम कीर्ति की
विधाय	=स्थापना कर
यथा	=जैसा
राजर्षिवर्यैः	=राजर्षियों ने
अभिसेवितम्	=सेवन किया है

ने मट्ठे (छाक) की आवश्यकता से दूसरे से पूछा कि तूने गाय रखी है ? यदि रक्खी है, तो दूध देती है या नहीं ? यदि दूध देती है तो पी जाता है या दधि जमाता है ? यदि दधि जमाता है तो उसे खा जाता है या मट्ठा बनाता है ? यदि मट्ठा बनाता है तो थोड़ा मुझे भी देना । देखो ! एक मट्ठे के अभिप्राय से उसने कितने और प्रसंगों का कथन किया, इसी को 'उपोद्घात' कहते हैं ।



तथा + =(वैसाही)
पूर्वआचरितम् =पहले के आचरण को
चचार =करने लगे।

भावार्थ--सपरिवार रावण का वध कर के तथा भक्त विभीषण को लङ्कापुरी का राज्य देकर राज्य सिंहासन पर बैठने के बाद, संसार में छा गया है यश जिनका; जो रघुवंशियों में श्रेष्ठ हैं; जिन्होंने शिर पर मोर मुकुट धारण किया है; जिनके ललाट पर केसर की खौर लगी है; जिनका सदा प्रसन्न मुख है; जिनके कानों में कुण्डल तथा गले में मणि और मोतियों की माला सुशोभित है। जिनका हृदय विशाल है तथा जिनकी भुजाएं जानुपर्यन्त हैं; जो हाथों में धनुष-बाण लिए तथा नीलमणि के समान श्याम शरीर पर पीताम्बर धारण किए हैं। जिनकी कटि में कधंनी विराजमान है; जिनके पैरों में सुन्दर कड़े हैं एवं जिनकी अंगुलियों में नूपुर प्रकाशमान हैं। जिनके चरण, हाथ तथा नयन अरुण कमल के सदृश हैं, जिनका मुख चन्द्र-भक्त चकोरों के लिए आनन्दप्रद है, जो उपासकों के चित्त को शुद्ध तथा शान्त कर त्रिविध तापों को दूर करने वाले एवं भुक्ति-मुक्ति के देने वाले सदा मुक्त स्वरूप हैं। ऐसे भगवान राम ने भक्तों के पुण्य तथा दुष्टों के पाप से प्रकट हुए अपने मायामय दिव्य शरीर से सदाचार, कर्म, उपासना और ज्ञान से युक्त रामायण रूपी उत्तम कीर्ति की स्थापना की। उसके बाद पूर्वकाल में जैसा राजर्षियों ने आचरण किया था, वैसा ही करने लगे। जैसे—गो, ब्राह्मण की



रक्षा, प्रजा-पालन, सन्ध्या-बन्दन, अग्निहोत्र, अतिथि-सत्कार
सन्त-समागम, इत्यादि ॥ १ ॥

सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना
राम: कथा: प्राह पुरातनी: शुभा: ।
राज्ञ: प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो
द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघव: ॥ २ ॥

पदच्छेद:—सौमित्रिणा, पृष्ट:, उदारबुद्धिना, राम:, कथा:, प्राह, पुरातनी:, शुभा: । राज्ञ:, प्रमत्तस्य, नृगस्य, शापत:, द्विजस्य तिर्यक्त्वम्, अथ, आह, राघव: ॥ २ ॥

अन्वय:—	अर्थ—
उदार बुद्धिना	=उदार बुद्धि
सौमित्रिणा	=लक्ष्मण जी के द्वारा
पृष्ट:	=पूछने पर
राम:	=राम चन्द्र
पुरातनी:	=प्राचीन
शुभा:	=उत्तम
कथा:	=कथाएँ
प्राह	=कहा करते थे
अथ	=तदनन्दर
राघव:	=रघुनाथ जी ने
प्रमतस्य	=प्रमत्त
राज्ञ:	=राजा

नृगस्य =नृग की
द्विजस्य =ब्राह्मण के
शापतः =शाप से
तिर्यक्त्वम् =तिर्यग् योनि की प्राप्ति
आह =कही ।

भावार्थः—स्वयं सकल शास्त्र के ज्ञाता होते हुए भी उदार बुद्धि श्री लक्ष्मण जी सत्संग के आनन्द-निमित्त तथा खास कर जगत के कल्याण के लिए श्री रघुनाथ जी से प्राचीन उत्तम कथाएं सुना करते थे। क्योंकि उदार पुरुषों के कार्य परोपकार के लिए हुआ करते हैं। भगवान श्री रामचन्द्र जी के मुखारविन्द से निकला हुआ जो यह सच्चा ज्ञान (रामगीता) जगत को सुलभ हुआ, वह लक्ष्मण जी की उदारता का ही परम फल है। श्री रामचन्द्र जी ने भगवद्भक्ति विहीन राजा नृग की कथा सुनायी जो प्रमाद वश अहङ्कार से सकाम कर्म (गो-दान) किया करता था, उससे ब्राह्मणों ने शाप दे दिया कि तू तिर्यग्योनि गिरगिट के शरीर को प्राप्त हो जा। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिहीन सकाम कर्म दानादि से जीव का कल्याण नहीं हो सकता; किन्तु निष्काम कर्म तथा भगवद्भक्ति के द्वारा आत्म ज्ञान से ही कल्याण हो सकता है। ब्राह्मण के शाप का चरितार्थ होना तप का फल है ॥ २ ॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपाद पंकजम् ।

सौमित्रिरासादित शुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ॥३

पदच्छेदः—कदाचित्, एकान्ते, उपस्थितम्, प्रभुम्, राम
रमालालितपादपङ्कजम्, सौमित्रः, आसादितः, शुद्धभाव
प्रणम्य, भक्त्या, विनयान्वितः, अब्रवीत्।

अन्वयः—	अर्थ—
कदाचित्	=कभी
प्रभुम्	=भगवान
रामम्	=राम
रमालालितपादपङ्कजम्	=जिनके चरण कमल लक्ष्मी जी से सेवित हैं
एकान्ते	=एकान्त में
उपस्थितम्	=बैठे थे
शुद्ध भावनः	=शुद्ध विचार से
आसादितः	=युक्त
सौमित्रिः	=लक्ष्मण जी
भक्त्या	=भक्ति के द्वारा
प्रणम्य	=प्रणाम करके
विनयान्वितः	=विनय के सहित
अब्रवीत्	=बोले।

भावार्थः—'जिनके चरण कमल श्रीलक्ष्मी जी से सेवित हैं;' इस वचन से सिद्ध होता है कि नर विग्रह धारी रामचन्द्र सांसारि नहीं हैं, किन्तु लक्ष्मी पति साक्षात् ईश्वर हैं और श्री लक्ष्मी से सेवित होने पर भी असङ्ग हैं, क्योंकि पहले मंगला चरण में कह




गया है कि:-बोध वैराग्य विग्रहौ। जो बोध (ज्ञान) स्वरूप हैं। ज्ञान स्वरूप में लक्ष्मी (माया या अज्ञान) का चारा कहाँ कि, मोहित कर सके। भगवान रामचन्द्र किसी दिन एकान्त में बैठे थे; निष्काम कर्म तथा राम की उपासना (सेवा) से शुद्ध हो गया है अन्तःकरण जिनका; तथा विवेक, वैराग्यादि से सम्पन्न हैं जो, ऐसे श्री लक्ष्मण जी मोक्ष की उत्कट इच्छा से ज्ञान-दीक्षा के लिए वहाँ गये। प्रभु के पास जा उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम कर अति विनीत भाव से बोले—(क्योंकि श्रीमद्भागवद्गीता में अर्जुन के प्रति श्री कृष्णचन्द्र जी ने कहा है—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मतत्त्व के जानने वाले ज्ञानी पुरुष तेरे लिए ज्ञानोपदेश करेंगे; परन्तु उस ज्ञान को प्रणाम, सेवा तथा शुद्ध भाव से प्रश्न कर के जानो। क्योंकि प्रणामादि से ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा जानी जाती है। केवल प्रणाम तो वंचक भी कर सकता है, परन्तु प्रश्न का नियम मुमुक्षु के सिवा दूसरा नहीं जान सकता। प्रश्न की रीति कहीं से धूर्त भी सीख सकता है, परन्तु सेवा नहीं कर सकता। इसलिए भगवान ने प्रणाम और प्रश्न के साथ सेवा भी कही है)॥ ३॥

त्वं शुद्ध बोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्माऽस्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसंगसंगिनाम्॥ ४॥



पदच्छेदः— त्वम्, शुद्धः, बोधः, असि, हि, सर्वदेहिनाम्, आत्मा, असि, अधीशः, असि, निराकृतिः, स्वयम् । प्रतीयसे, ज्ञान दृशाम्, महामते, पादाब्जभृङ्गा हितसङ्गसङ्गिनाम्, ॥ ४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
महामते	=हे महामते !
त्वम्	=तू
हि	=निस्सन्देह
शुद्धः	=शुद्ध
बोधः	=ज्ञान स्वरूप
असि	=है।
सर्व	=सम्पूर्ण
देहिनाम्	=देहधारियों के
आत्मा	=आत्मा
च +	=(और)
स्वयम्	=स्वरूप से
निराकृतिः	=निराकार
असि	=है
तव +	=(आपके)
पदाब्जभृङ्गाहितसंग संगिनाम्	=चरण कमलोंके भ्रमर जो संत हैं, उनके सहवास के प्रेमियों
त्वम्+	=(तू)
ज्ञानदृशाम्	=ज्ञान दृष्टि से
प्रतीयसे	=प्रतीत होता है।

भावार्थ—हे महामते ! आप शुद्ध ज्ञान-स्वरूप होने से सम्पूर्ण देह धारियों के आत्मा हैं। श्रीमद्भागवद्गीता में भी भगवान कहते हैं—क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारतः। अर्थात् हे भारत ! सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र को जानने वाला) भी मुझको जानो ॥ और भी-अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशयः स्थितः। अर्थात् हे निद्रा के जीतने वाले अर्जुन ! सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा मैं हूँ ॥ और हे भगवन् ! ज्ञान स्वरूप आत्मा होने से सबके स्वामी भी आप ही हैं। क्योंकि जैसे स्वामी की प्रेरणा से अनुचर अपने अपने कर्म में नियुक्त होते हैं वैसे ही यह सम्पूर्ण जड़ जगत आपकी सत्ता से ही चेष्टा कर रहा है और आप स्वरूप से स्वयं निराकार हैं। श्रुति भी कहती है—अस्थूलमनणवमह्स्वमदीर्घम् । अर्थात् आत्मा आकार रहित होने के कारण न तो स्थूल है, न अणु है न छोटा है और न बड़ा है। परन्तु हे प्रभो ! साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के लिए अपने सत्य संकल्प से रचित मायामय साकार स्वरूप के (अपने चित्त के चंचलता के निवृत्ति एवं ज्ञान रूपी परम शान्ति की प्राप्ति के लिए) जो भ्रमर हैं अर्थात् ध्यानी हैं, उन सन्तों के सत्सङ्ग रूपी अमृत को निरन्तर पान करने वालों का हृदय शुद्ध हो कर ज्ञान दृष्टि हो जाती है और उस ज्ञान दृष्टि से आपका वास्तविक स्वरूप जो शुद्ध सच्चिदानन्द घन है, वह दिखलाई देताहै ॥ ४ ॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम् ।

यथाञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः—अहम्, प्रपन्नः, अस्मि, पदाम्बुजम्, प्रभो भवापवर्गम्, तव, योगिभावित्। यथा, अञ्जसा, अज्ञानम्, अपार वारिधिम्, सुखम्, तरिष्यामि, तथा, अनुशाधि, माम्, ॥ ५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
प्रभो	=हे प्रभो!
योगिभावितम्	=योगियों के द्वारा चिन्तन करने योग्य,
भवापवर्गम्	=संसार से छुड़ाने वाले
तव	=तुम्हारे
पदाम्बुजम्	=चरण कमलों के
अहम्	=मैं
प्रपन्नः	=शरण
अस्मि	=हूँ।
माम्	=मुझे
तथा	=वैसा
अनुशाधि	=उपदेश दीजिए
यथा	=जैसे
अञ्जसा	=सुगमता से
सुखम्	=सुख पुर्वक
अज्ञानम्	=अज्ञान रुपी
अपारवारिधिम्	=अपार समुद्र से
तरिष्यामि	=तर जाऊं ॥

भावार्थ—ज्ञान दाता ब्रह्मनिष्ठ गुरु को जब तक सब कुछ अर्पण करके शरणागत न हो, तब तक उपदेश का अधिकारी नहीं हो सकता। जैसे शास्त्र में कहा है—यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ अर्थात् जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है और जैसी ईश्वर में है, वैसी ही गुरु में भी है, उसी अधिकारी महात्मा के हृदय में कही हुई ब्रह्म-विद्या (ज्ञान) प्रकाश करती है। इसलिए यदि ज्ञानी गुरु प्रवृत्ति मार्ग वाला गृहस्थ हो, तो तन, मन और धन सब कुछ अर्पण करे और यदि वह निवृत्ति मार्ग वाला सन्यासी हो, तब तो केवल शरीर से सेवा करे और मन से श्रद्धा रखे। सद्गुरु को सेवा ईश्वर की प्रतिमा-पूजन से भी बढ़ कर है, क्योंकि प्रतिमा का पूजन केवल अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है और गुरु की सेवा से अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्मज्ञान ये दोनों होते हैं। इसी नियम के अनुसार श्री लक्ष्मण जी कहते हैं कि—हे प्रभो! सांसारिक दुख जन्म-मरण के छुड़ाने वाले आपके चरण कमल जिनका योगीजन निरन्तर चिन्तन करते हैं, मैं तन मन धन से उन चरण कमलों के शरण में हो कर आपका शिष्य होता हूँ। आप इस दास पर कृपा कर के ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं अज्ञान रूपी अपार समुद्र को पार कर जाऊँ। इस अज्ञान रूपी समुद्र में विषय जल भरा है; मनोरथ की नाना तरंगें उठ रही हैं, मोह रूपी आवर्त्त (भँवर) और शोक रूपी वड़वानल है। विवेक, वैराग्यादि जिसके किनारे हैं; धैर्य्य, सन्तोषादि तट के वृक्ष हैं और वहाँ तृष्णा पिशाचिनी तथा काम, क्रोधादि पिशाच एवं तर्क-वितर्क रूपी पक्षी निवास करते हैं। हे भगवन्! इस समुद्र में कल्पी

महा मकर रहता है, जो जीवों को मार-मार कर खा जाता है अतएव मैं दीन दुःख से कातर हुआ आपके शरण में हूँ। मु शरणागत पर कृपा कीजिए, क्योंकि इस अज्ञान रूपी महासा से पार करने में एक मात्र आप ही समर्थ हैं ॥ ५ ॥

उपदेश का आरम्भ।

श्रुत्वाऽथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।
विज्ञानमज्ञानतमः प्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—श्रुत्वा, अथ, सौमित्रिवचः, अखिलम्, तद प्राह, प्रपन्नार्तिहरः, प्रसन्नधीः। विज्ञानम्, अज्ञानतमः, प्रशान्त श्रुतिप्रपन्नम्, क्षितिपालभूषणः ॥ ६ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अथ	=तदनन्तर
सौमित्रिवचः	=लक्ष्मण जी के वचन
अखिलम्	=सम्पूर्ण
श्रुत्वा	=सुनकर
तदा	=तब

प्रपन्नार्तिहरः =शरणागत के दुख नाशक
क्षिति पालभूषणः =भूपाल शिरोमणि भगवान राम
श्रुति प्रपन्नम् =सुनने के लिये उत्सुक
लक्ष्मणम् + =(लक्ष्मण को)
तम प्रशान्तये =अज्ञानान्धकार के नाश निमित्त
प्रसन्नधीः =प्रसन्न चित्त से
विज्ञानम् =विशेष रुप से ज्ञान को
प्राह =कहने लगे

भावार्थः—जैसे अपने प्रिय बछड़े को पाकर गौएँ प्रसन्न होकर दुग्ध पिलाने लगती है, वैसे ही परम श्रद्धालु वैराग्य स्वरूप श्री लक्ष्मण जी सरीखे अधिकारी को पा शरणागत वत्सल भूपाल शिरोमणि भगवान रामचन्द्र जी प्रसन्न चित्त से अज्ञान रूपी अन्धकार का नाशक विशेष रूप से ज्ञानोपदेश करने लगे; ठीक ही तो है—गूढ़ो तत्त्व न सन्त दुरावहिं। आरत अधिकारी जहं पावहिं॥ सन्त जन शरण में आये हुये अधिकारी के प्रति गोपनीय तत्त्व को भी नहीं छिपाते। परन्तु अनाधिकारी के प्रति प्रकट नहीं करते, क्योंकि कहा है—मरुस्थले यथा वृष्टि र्यथा दीपो दिवाकरे। यथा अन्नमजीर्णस्याद्वित्तं च गलितस्पृहः॥ उपदेशो तथा ज्ञानमधिकारो बिना प्रति॥ जैसे मरुस्थल में वृष्टि, दिन में दीपक, अजीर्ण के प्रति अन्न और निस्पृही वैराग्यवान् के प्रति धन देना निरर्थक है, वैसे ही अनाधिकारी के प्रति ज्ञानोपदेश निरर्थक है॥ ६॥

———

गुरूपसत्ति ।

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्ध मानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— आदौ, स्ववर्णाश्रमवर्णिताः, क्रियाः, कृत्वा, समासादित, शुद्धमानसः । समाप्य, तत्, पूर्वम्, उपात्तसाधनः, समाश्रयेत्, सद्गुरुम्, आत्मलब्धये ॥ ७ ॥

अन्वयः— अर्थ—

आदौ	=पहले-पहले
स्ववर्णाश्रमवर्णिताः	=अपने वर्णाश्रम की वर्णित
क्रियाः	=क्रियाओं को
कृत्वा	=कर के
समासादितशुद्धमानसः	=अन्तःकरण की शुद्धि से सम्पन्न होकर
तनिकर्माणि +	=(उन कर्मों को)
समाप्य	=छोड़ कर
तत्	=उससे (गुरुशरणागति के)
पूर्वम्	=पहले
उपात्तसाधनः	=साधनों से सम्पन्न होकर

आत्मलब्धये =आत्म प्राप्ति के लिये
गुरुम् =गुरु के
समाश्रयेत् =शरणगत हो ।

भावार्थ—जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक समान होने पर भी स्वच्छ दर्पण या जल में ही प्रतिविम्बित होता है, वैसे ही सर्व व्यापी आत्मा अपना स्वरूपहोने से अन्तः करण में सर्वदा प्रकाशित है। यथा—हृदाकाशे चिदादित्य सदा भासति भासति ।। अर्थात् हृदय रूपी आकाश में चैतन्य (आत्मा) रूपी सूर्य सदा प्रकाशित है ।। परन्तु वासना (पाप) रूपी मलीनता से प्रतीत नहीं होता; इसलिये जीव दुखी हो रहे हैं। जैसे गोस्वामी तुलसी दास जीने कहा है—अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। बिनु जाने जग जीव दुखारी ।। अतः आत्म ज्ञान के लिये हृदय को शुद्ध (स्वच्छ) करना आवश्यक है। इसलिये भगवान राम कहते हैं—सबसे पहले अपने अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रमें बतलायी हुई क्रियाओं का विधिवत् पालन करके चित्त को शुद्ध करे। अन्यत्र भी कहा है—चित्तस्य शुद्धये कर्म ।। चित्त शुद्धि के लिये कर्म हैं ।। बुद्धि का सात्विक हो जाना ही चित्त की शुद्धि है। यद्यपि सकाम कर्म से भी बुद्धि में सतोगुण होता है, परन्तु वह तभी तक रहता है, जब तक कर्मफल का भोग पूरा नहीं हो जाता। पुण्य-फल सुखोपभोग के समाप्त होते ही फिर बुद्धि में रजोगुण-तमोगुण बढ़ जाते हैं। और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ईश्वरार्पण पूर्वक जो निष्काम कर्म किये जाते हैं, वे उनके फलस्वरूप सुख मिलने के बाद भी बुद्धि सात्विक बनी रहती है, और केवल उस बुद्धि से ही विवेक, वैराग्य, शमदमादि, साधन होते हैं। सकाम तथा निष्काम कर्म में

यही अन्तर है ॥ श्रुति सेतु पालक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम कहते हैं कि-चित्त की शुद्धि (वासना रहित) हो जाने पर सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ कर तथा शम दमादि साधनों से युक्त होकर आत्मज्ञान के लिये सद्गुरु के शरण में जाय। जैसे श्रुति भगवती कहती है--तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवभि गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥ अर्थात् उस आत्मज्ञान के लिये हाथ में कुछ भेंट लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरण में जाय ॥ श्रुति-शास्त्रों के अद्वैत-सिद्धांत के जानने वाले को श्रोत्रिय तथा ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष (साक्षात्कार) कर उसमें निष्ठा रखने वाले को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं ॥ ७ ॥

ज्ञान और कर्म की मीमांसा।

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः—क्रियाः, शरीरोद्भवहेतुः, आदृताः, प्रियाप्रियौ, ताः, भवतः, सुरागिणः। धर्मेतरौ, तत्र, पुनः, शरीरकम्, पुनः, क्रियाः, चक्रवत्, ईर्यते, भवः ॥ ८ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
क्रियाः	=क्रिया (कर्म)
शरीरोद्भवहेतुः	=शरीरोत्पत्ति का कारण
आदृताः	=मानी गयी है,
तौः	=उनमें
सुरागिणः	=प्रीति वालों से
प्रियाप्रियौ	=इष्ट-अनिष्ट (कर्म)
भवतः	=होते हैं
ताभ्याम् +	=(उनसे)
पुनः	=फिर
तत्र	=वहां
धर्मेतरौ	=धर्मा धर्म
भवतः +	=(होते हैं),
पुनः +	=(फिर)
ताभ्याम् +	=(उनसे)
शरीरकम्	=शरीर होता है,
पुनः	=फिर
क्रियाः	=कर्म होते हैं,
इति +	=(इस प्रकार)
चक्रवत्	=चक्र के समान
भवः	=संसार
ईर्यते	=चलता रहता है।

भावार्थ—अपने अद्वितीय आत्मस्वरूप के अज्ञान से नानात्व जगत् दिखलायी देता है, उस जगत के नाना पदार्थों में

अनुकूल तथा प्रतिकूल बुद्धि होती है,फिर अनुकूल पदार्थ से प्रेम एवं प्रतिकूल पदार्थ से द्वेष होता है । उसके बाद प्रिय पदाथ की प्राप्ति एवं अप्रिय पदार्थ की निवृत्ति के लिये शुभाशुभा कर्म होते हैं । पुनः शुभाशुभ कर्मों से पुण्य तथा पाप की उत्पत्ति होती है; उन पुण्य तथा पाप का फल सुख तथा दुःख के भोग निमित्त शरीर मिलता है और शरीर पाने से फिर कर्म होते हैं । इस प्रकार 'संसार-चक्र चलता रहता है । अतएव इस संसार-चक्र का मूल कारण अपने स्वरूप का अज्ञान ही है और उसका नाश ज्ञान से ही होता है, न कि कर्म से । इसी बात को आगे के श्लोक में कहते हैं: ॥ ८ ॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः—अज्ञानम्, एव, अस्य, हि, मूलकारणम्: तत्, धानम्,एव, अत्र, विधौ, विधीयते । विद्या, एव, तत्, नाशविधौ पटीयसी, न, कर्म, तत्, जम्, स, विरोधम्, ईरितम्, ॥ ९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
हि	=निस्सन्देह
अस्य	=इस संसार का
मूलकारणम्	=मूलकारण
अज्ञानम् एव ।	=अज्ञान ही है
च +	= (और)

अत्र	=यहाँ
विधौ	=विधि वाक्यों में
तत्	=उस अज्ञान का
घातम् एव	=नाश ही
विधीयते	=बतलाया गया है,
तत्	=उस अज्ञान का
नाश विधौ	=नाश करने में
विद्या एव	=विद्या (ज्ञान) ही
पटीयसी	=समर्थ है,
तत् जम्	=उस अज्ञान से उत्पन्न हुआ
सः	=वह
कर्म	=कर्म
विरोधम्	=विरोधी
न ईरितम्	=नहीं हो सकता

भावार्थ—जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी का अज्ञान ही सर्प-प्रतीति तथा उस सर्पजन्य भय का हेतु होता है, वैसे ही अपने स्वरूप का अज्ञान ही नानात्व जगत् की प्रतीति, राग द्वेष, शुभाशुभ कर्म एवं कर्मभोग-निमित्त शरीरोत्पत्ति का हेतु है। और शास्त्रीय विधिवाक्यों में उस अज्ञान का नाश करना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य बतलाया गया है। अज्ञान का नाश करने में उससे उत्पन्न हुआ कर्म नहीं समर्थ हो सकता, बल्कि केवल एक ज्ञान ही हो सकता है। क्यों कि ऐसा नियम ही है कि उत्पन्न हुआ कार्य अपने कारण का विरोधी नहीं हो सकता। इसी से कहा है—कर्मणा बध्यते जन्तुर्ज्ञानेन प्रमुच्यते। तस्मात् कर्मन

कुर्वन्तियतयः पारदर्शिनः ॥ अर्थात् प्राणी कर्म करके बँधता है और ज्ञान के द्वारा मुक्त होता है, इसलिए पारदर्शी यती जन कर्म नहीं करते ॥ ९ ॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानबिचारवान्भवेत् ॥ १० ॥

पदच्छेदः—न, अज्ञानहानिः, न, च, रागसंक्षयः, भवेत्, ततः, कर्मसदोषम्, उद्भवेत् । ततः, पुनः, संसृतिः, अपि, अवारिता, तस्मात्, बुधः, ज्ञान, विचारवान्, भवेत् ॥ १० ॥

अन्वयः—	अर्थ—
कर्मणा +	= (कर्म के द्वारा)
अज्ञान हानिः	= अज्ञान का नाश
च	= और
राग संक्षयः	= राग का क्षय
न भवेत्	= नहीं हो सकता,
ततः	= उससे
कर्मसदोषम्	= सदोष कर्म
उद्भवेत्	= उत्पन्न होता है,
ततः	= इससे
पुनः	= पुनः
संसृतिः	= संसार की प्राप्ति

अपि =भी
अवारिता =अनिवार्य है।
तस्मात् =इसलिये
बुधः =बुद्धिमान पुरुष
ज्ञान विचारवान् =ज्ञान का विचारवाला
भवेत् =होवे।

भावार्थ—कर्म के द्वारा अज्ञान का नाश तथा राग का क्षय नहीं हो सकता। क्योंकि शुभाशुभ कर्मों से पुण्य-पाप की उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप के फल से इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थ मिलते हैं; पुनः इष्ट पदार्थों के भोग से राग की वृद्धि होती है, क्यों कि विषय रूपी घृत के पड़ने से कामना रूपी अग्नि कभी शान्ति नहीं होती; बल्कि बढ़ती ही जाती है, जैसे तुलसी दास जी ने कहा है—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। फिर अनिष्ट पदार्थ की उपलब्धि में द्वेष होता है। उसके बाद अनुकूल विषय की प्राप्ति एवं प्रति कूल विषय की निवृत्ति के लिये अनेक सदोष कर्म होते हैं, उनसे फिर शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार संसार-चक्र का रुकना असम्भव हो जाता है। संसार-चक में रहने से बुद्धि मलीन होती जाती है, और उस मलीन बुद्धि से अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता; बल्कि अज्ञान बढ़ता है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ज्ञान के ही विचार में तत्पर रहे। क्यों कि ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है और अज्ञान के नाश होते ही कोई भी पदार्थ अपने से भिन्न नहीं प्रतीत होता। अपने से भिन्न पदार्थ की प्रतीति न होने से इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धि नहीं होती; इष्ट-अनिष्ट

बुद्धि के अभाव से राग द्वेष नहीं होते; राग द्वेष के अभाव से शुभ शुभ कर्म नहीं होते; शुभाशुभ कर्मों के अभाव से पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती; पुराय-पाप के अभाव से शरीर नहीं मिलता है और शरीर के अभाव से संसार-चक्र बन्द हो जाता है ! अतः ज्ञान ही परम तत्त्व है ॥ १० ॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः—ननु, क्रिया, वेदमुखेन, चोदिता, तथा, एव, विद्या, पुरुषार्थसाधनम्, कर्तव्यता, प्राणभृतः, प्रचोदिता, विद्यासहायत्वम्, उपैति, सा, पुनः ॥ ११ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
ननु	=वितर्क वादी कहते हैं—
यथा +	=(जिस प्रकार)
वेदमुखेन	=वेद के कथन से
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
पुरुषार्थ साधनम	=पुरुषार्थ का साधक है,
तथा एव	=वैसे ही
क्रिया	=क्रिया (कर्म)
चोदिता	=वेद विदित है
च +	=(और)

प्राणभृतः	= प्राणियों के लिये
कर्तव्यता	= कर्तव्यता का
प्रचोदिता	= विधान है,
तस्मात् कारणात् +	= (इस लिये)
पुनः	= फिर
सा	= वह क्रिया (कर्म)
विद्या सहायत्वम्	= विद्या (ज्ञान) का सहकारी
उपैति	= हो जाती है।

भावार्थ—कुछ वितर्कवादी कहते हैं कि—जिस प्रकार वेद के कथनानुसार ज्ञान मोक्ष का साधक है, जैसे-ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ।। अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इत्यादि। वैसे ही कर्म भी वेद विदित है, जैसे-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजीविषेच्छतं समाः ।। अर्थात् सौ वर्ष यानी आयु पर्यन्त कर्म करते हुये जीने की इच्छा करो, इत्यादि ।। इसलिये वह कर्म ज्ञान का सहकारी हो जाता है। यदि कर्म ज्ञान का सहकारी नहीं होता तो उसे करने का विधान वेद में क्यों होता ? अतः कर्म के सहित ज्ञान (कर्म और ज्ञान के समुच्चय) से ही मोक्ष की सिद्धि होती है ।। ११ ।।

कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुव कार्य कारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाऽप्यपेक्षते ।।

न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः ।
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ॥
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥ १२-१३ ॥

पदच्छेदः—कर्माकृतौ, दोषम्, अपि, श्रुतिः, जगौ, तस्मात्, सदा, कार्यम्, इदम्, मुमुक्षुणा । ननु, स्वतन्त्रा, ध्रुव कार्यकारिणी, विद्या, न, किञ्चित्, मनसा, अपि, अपेक्षते ॥ न सत्कार्यः, अपि, हि, यद्वत्, अध्वरः, प्रकाङ्क्षते, अन्यान्, अपि कारकादिकान् । तथा, एव, विद्या, विधिता, प्रकाशतैः, विशिष्यते कर्मभिः, एव, मुक्तये ॥ १२-१३ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
श्रुति	=श्रुति ने
कर्माकृतौ	=कर्म न करने में
दोषम् अपि	=दोष भी
जगौ	=बतलाया है,
तस्मात्	=इसलिए
मुमुक्षुणा	=मुमुक्षु के द्वारा
इदम्	=यह कर्म
सदाकार्यम्	=सदा करने योग्य है
ननु	=यदि कहे कि
विद्या	=विद्या (ज्ञान)

स्वतन्त्रा	=स्वतन्त्र है,
ध्रुवकार्य कारिणी	=निश्चय कार्य करने वाली है अर्थात् अपना फल देने वाली है।
मनसा अपि	=मन से भी
किञ्चित्	=किसी की
न अपेक्षते	=अपेक्षा नहीं है।
ननु	=सो ठीक नहीं (क्योंकि)
यद्वत्	=जैसे
अध्वरः	=यज्ञ
सत्कार्यः अपि	=सत्कर्म होने पर भी
अन्यान्	=अन्य
कारकादिकान्	=कारकादि की
अपि	=भी
हि	=निस्सन्देह
प्रकाङ्क्षते	=अपेक्षा करता है,
तथा एव	=वैसे ही
विधितः	=विधि से
प्रकाशितैः	=प्रकाशित
कर्मभिः	=कर्मों के द्वारा
एव	=ही
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
मुक्तये	=मुक्ति के लिये
विशिष्यते	=योग्य हो सकती है।

भावार्थ—श्रुति ने कर्म न करने में दोष भी बतलाया है तथा भगवान श्री कृष्ण ने भी अनेक प्रकार के यज्ञों (कर्मों) का वर्णन करते हुये श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—एवम् प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीहयः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ अर्थात्-इस प्रकार फैले हुए कर्मचक्र को जो इस संसार में नहीं वर्तता है, वह इन्द्रियों में रमण करने वाला तथा पापमय जीवन वाला व्यर्थ ही जीता है। इसलिये मुमुक्षु (मोक्षके इच्छुक) पुरुष को कर्म सदा ही करते रहना चाहिए, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवम् वह विना किसी की सहायता के ही अपना फल (मोक्ष) देने में समर्थ है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वेदोक्त यज्ञ सत्य कर्म होने पर अपना फल देने में (होता, ऋत्विक्, यजमानादि) कारकों की सहायता चाहता ही है। वैसे ही ज्ञान भी वेदोक्त होने से कर्म की अपेक्षा अवश्य ही करेगा अर्थात् कर्म के द्वारा ही मुक्ति का साधक होगा। अतः कर्मों का त्याग उचित नहीं है॥ १२-१३॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्य सद्दृष्ट विरोध कारणात्।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताऽहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥१४॥

पदच्छेदः—केचित्, वदन्ति, इति, वितर्कवादिनः, तत्, अपि, असद्दृष्टः, विरोधकारणात्, देहाभिमानात्, अभिवर्धते, क्रिया, विद्या, गताऽहङ्कृतितः प्रसिध्यति॥ १४॥

अन्वयः—	अर्थ—
इति	=ऐसा
केचित्	=कोई
वितर्कवादिनः	=वितर्कवादी
वदन्ति	=कहते हैं,
तत्	=उसमें (उनके कथन में)
अपि	=निश्चय करके
विरोधकारणात्	=विरोध होने के कारण
असद्दृष्टः	=ठीक नहीं है।
क्रिया	=क्रिया (कर्म)
देहाभिमानात्	=देहाभिमान से
वर्धति	=बढ़ती है
च +	=(और)
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
गताहङ्कृतितः	=अहंकार के नाश होने पर
प्रसिध्यति	=सिद्ध होती है।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—हे लक्ष्मण! (ग्यारह, बारह एवं तेरहवें श्लोक के अनुसार) कुछ कुतर्की कहते हैं, उनके कथन में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण, वह ठीक नहीं है। क्योंकि जिन अज्ञानी पुरुषों को अपने शुद्ध निष्क्रिय आत्म स्वरूप का बोध नहीं है, वे शरीर को ही आत्मा अर्थात् मैं शरीर हूँ, ऐसा मानते हैं; और शरीर के धर्म जो दुःख-सुख तथा

वर्णाश्रम हैं, उनको अपना मान कर दुःख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति निमित्त अनेक प्रयत्न करते हैं, तथा वर्णाश्रम धर्म का भी पालन नाना कामनाओं से करते हैं। इस प्रकार के कर्म देहाभिमान से होते हैं, और—नाहं भूतगणो देही नाहं चाक्ष गणस्तथा। एतद्विलक्षणः कश्चित् विचारः सोऽयमीदृशः॥ अर्थात् मैं पंचभूतों का समूह रूप देह नहीं हूँ, तथा वैसे ही भूतों के विकार रूप इन्द्रियां भी नहीं हूँ, बल्कि इससे कोई भिन्न हूँ, इस प्रकार का वह विचार होता है। इस श्लोक के कथनानुसार विचार करने से जब ऐसा बोध हो जाता है कि "मैं देह नहीं हूँ" तब इस प्रकार का ज्ञान होता है-ब्रह्म वाऽहं शमः शान्तः सच्चिदानन्द लक्षणः। नाऽहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ अर्थात् मैं असत् रूप देह नहीं हूँ बल्कि मैं निष्क्रिय शान्त (निर्विकार) तथा सच्चिदानन्द लक्षण वाला ब्रह्म ही हूँ, विद्वानों ने इस प्रकार का ज्ञान कहा है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो चुका कि देहाभिमान से कर्म एवम् देहाभिमान के नाश होने से ज्ञान होता है। अतः कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता अर्थात् दोनों का पालन एक साथ नहीं हो सकता। प्रश्न—ज्ञानियों में भी कर्म पाये जाते हैं, जैसे-देखना, सुनना, बोलना, चलना-फिरना, मल-मूत्र त्यागना, इत्यादि। तब कैसे माना जाय कि कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध है? उत्तर—जिसमें राग द्वेष हों एवम् शास्त्रीय विधि निषेध हों, तथा जो कर्ता के आधीन हो, वह कर्म है। पूर्वोक्त कर्मों में इस प्रकार का राग नहीं होता है कि

मैं आखों से अवश्य देखूं, कानों से श्रवण करूं, मुख से बोलूं, तथा पैरों से चलूं-फिरूं, एवम् मल-मूत्र त्यागूं क्योंकि इन कर्मों के न करने से मुझे बड़ा दोष होगा; और मल मूत्रादि की आवश्यकता पड़ने पर ऐसा द्वेष भी नहीं होता कि मलमूत्रादि कर्म से मुझे बड़ा कष्ट होता है, अतः मैं न करूं, और ये कर्म कर्ता के आधीन भी नहीं हैं। क्योंकि मल मूत्रादि के वेग होने पर, इच्छा हो या न हो करने ही पड़ते हैं तथा बिना वेग के इच्छा होने पर भी नहीं हो सकते, एवम् शास्त्रीय ऐसी विधि नहीं है कि तुम अवश्य देखो, सुनो, चलो तथा मलमत्र त्यागो नहीं तो दोष भागी होगे। और ऐसा निषेध भी नहीं है कि तुम मत देखो, मत सुनो, मत चलो तथा मलमूत्र मत त्यागो, ऐसा करोगे तो दोष होगा। अतः शारीरिक कर्म कर्ता के आधीन न होने तथा रागद्वेष से एवम् शास्त्रीय विधि निषेध से रहित होने से कर्म नहीं हैं। अतएव भगवान श्रीकृष्ण जी भी श्री मद्भगवद्गीता में कहे हैं:—शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ अर्थात्—ज्ञानी केवल शारीरिक कर्म करता हुआ किल्विष को प्राप्त नहीं होता अर्थात् कर्म फल के भोग निमित्त जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता॥ १४॥

विशुद्ध विज्ञान विरोचनाञ्चिता
विद्याऽऽत्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याऽखिल कारकादिकम्॥१५॥

पदच्छेदः—विशुद्धविज्ञानस्य, विरोचनात्, चिताः वि
आत्मवृत्तिः चरम, इति, भण्यते । उदेति, कर्म, अखिलैः, कारक
दिभिः, निहन्ति, विद्या, अखिलम्, कारकादिकम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
विशुद्ध विज्ञानस्य	=विशुद्ध विज्ञान के
विरोचनात्	=प्रकाश से
चिताः	=प्रकाशित (जो)
चरम	=चरम
आत्मवृत्ति	=आत्मवृत्ति होती है (उसे)
विद्या	=विद्या (आत्मज्ञान)
इति	=करके
भण्यते	=कहा जाता है ।
कर्म	=कर्म
अखिलैः	=सम्पूर्ण
कारकादिभिः	=कारकादि से
उदेति	=होता है,
परञ्च +	=(किन्तु)
विद्या	=विद्या
अखिलम्	=सम्पूर्ण
कारकादिकम्	=कारकादि का
निहन्ति	=नाश कर देती है ॥

भावार्थ—वेदान्त वाक्यों का विचार करते करते "मैं शुद्ध मुक्त नित्य परब्रह्म हूँ," इस प्रकार के विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित जो सर्वश्रेष्ठ अन्तिम अन्तः करण की वृत्ति होती है, उसी का नाम ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान है। इसके अतिरिक्त कर्म होता, यजमानादि कारकों की सहायता से होता है, परन्तु ब्रह्म विद्या के होते ही सम्पूर्ण कारकादि का नाश हो जाता है। क्योंकि यज्ञादि कर्म तथा कर्मफल स्वर्गादि एवम् कर्म के कर्ता यजमानादि—ये सभी अविद्या के कार्य हैं और वह अविद्या आत्मा में कल्पित है। जब "आत्मैवेदं सर्वं"। अर्थात् यह सब (जगत) आत्मा ही है-इस श्रुति तथा "सत्यं ब्रह्मजगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"। अर्थात् ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है; दूसरा नहीं। इस स्मृति के अनुसार ब्रह्म विद्या (आत्म ज्ञान) के प्रकाशित होते ही अविद्या अपने कार्य (कारक, कर्म तथा कर्मफल) के सहित लय हो जाती है। जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी को जान लेने पर कि यह रस्सी ही है, फिर सर्प की प्रतीति नहीं होती। उसी प्रकार अपने सहित जगत को ऐसा जान लेने पर कि—'सब ब्रह्म ही है' सम्पूर्ण कारकादि के सहित कर्म मिथ्या हो जाता है। यही ज्ञान यज्ञ है, भगवान ने भगवद्गीता में इसी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जैसे—ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैवतेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥ अर्थात् श्रुवा ब्रह्म है तथा होम द्रव्य भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म स्वरूपी अग्नि में ब्रह्म के द्वारा हवन किया गया है। जिस ज्ञानी पुरुष के द्वारा इस प्रकार कर्म में ब्रह्म

की भावना के द्वारा सम्पूर्ण कारकादि के सहित कर्मों की अनित्यत समझी गयी है, उस समाधिस्थ पुरुष के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त होत है अर्थात् वह ब्रह्म भूत हो जाता है ॥ १५ ॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसंधानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— तस्मात्, त्यजेत्, कार्यम्, अशेषतः, सुधीः, विद्या, विरोधात्, न, समुच्चयः, भवेत । आत्मानुसंधानपरायणः, सदा, निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्ति गोचरः ॥ १६ ॥

अन्वयः—	अर्थ
तस्मात्	=इसलिए
निवृतिसर्वेन्द्रियवृतिगोचरः	=समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत होकर।
सदा	=निरन्तर
आत्मानुसंधानपरायणः	=आत्मानुसंधान में लगा हुआ
सुधीः	=बुद्धिमान पुरुष
अशेषतः	=सम्पूर्ण
कार्यम्	=कर्मों को
त्यजेत्	=त्याग दे,
यतः +	=(क्योंकि)

विद्या विरोधात् =विद्या का विरोधी होने से
समुच्चयः =समुच्चय
न भवेत् =नहीं हो सकता।

भावार्थ—कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध होने तथा अपना फल मुक्ति देने में ज्ञान के स्वतन्त्र होने से दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता; अतएव सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप,रस,गन्ध)से निवृत्त रह कर आत्मविचार में लगा हुआ बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को त्याग दे। क्योंकि मन को क्षोभित करने वाली ये इन्द्रियां बड़ी बलवान हैं, ये अपने विषयों को पाकर ऐसे उन्मत्त हो जाती हैं कि पुरुष के मन को अपने वश में करके आत्म विचार से विमुख कर देती हैं और फिर अपने विषय भोग के लिए नाना प्रकार के कुकर्मों में प्रवृत्त करती हैं, उन कुकर्मों के करने से पुरुष को नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं, जैसे कहा है—शब्दादिभिः पञ्चभिरेवपञ्चः पंचत्वमायुः स्वगुणेन बद्धाः। कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग मीन भृङ्गा नरः पञ्चभिः रञ्चितः किम् ॥ अर्थात्—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पांच विषयों के द्वारा क्रमशः मृगा, हाथी, पतङ्ग, मछली और भ्रमर ये नष्ट हो जाते हैं और जो पुरुष इन पांचों से जकड़ा हुआ है, उसके नाश में क्या सन्देह है ? अर्थात् कुछ नहीं। अतः इन्द्रियों से मनको हटा कर आत्मविचार करना ही बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है ॥ १६ ॥

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवाद कर्मणाम्।

नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्यत-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥१७॥

पदच्छेदः—यावत्, शरीरादिषु, मायया, आत्मधीः, तावत्, विधेयः, विधिवादकर्मणाम्। नेति, इति, वाक्यैः अखिलम्, निषिध्य, तत्, ज्ञात्वा, परात्मानम्, अथ, त्यजेत्, क्रियाः ॥ १७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यावत्	=जब तक
मायया	=माया से
शरीरादिषु	=शरीरादि में
आत्मधीः	=आत्मबुद्धि है,
तावत्	=तभी तक
विधि वादकर्मणाम्	=वैदिक कर्मों का अनुष्ठान
विधेय	=कर्त्तव्य है,
नेति	='नेति' 'नेति'
इति	=ऐसे
वाक्यैः	=वाक्यों के द्वारा
अखिलम्	=सम्पूर्ण अनात्मपदार्थों का
निषिध्य	=निषेध करके
परात्मानम	=अपने परमात्मा स्वरूप को
ज्ञात्वा	=जान लेने पर
अथ	=फिर
क्रियाः	=समस्त कर्मों को
त्यजेत्	=छोड़ दे।

भावार्थ—(पहले वादी ने कहा था कि कर्म वेद विहित हैं तथा प्राणियों के लिये अवश्य करने का विधान है, एवम् श्रुति ने कर्म के न करने में दोष भी कहा है, उसका उत्तर भगवान राम देते हैं) जब तक माया से मोहित होने के कारण इन्द्रिय, शरीर, प्राणादि में आत्म भावना होने से ऐसा प्रतीत होता है कि—मैं मोटा हूँ, पतला हूँ, श्याम हूँ, गौर हूँ, वर्णाश्रमी हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ, भूखा हूँ, प्यासा हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, इत्यादिः। तभी तक वेद विहित कर्मों का विधान है अर्थात् तभी तक उस पर कर्म करने की वेद की आज्ञा है और तभी तक कर्म के न करने में दोष भी है। परन्तु, जब "नेति-नेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों का निषेध करके अपने परमात्म स्वरूप को जान लेने पर (जैसे सर्वं 'खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि' ॥ 'माया मात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' ॥ अर्थात् यह नानात्व जगत कुछ नहीं है, किन्तु निस्सन्देह यह सब ब्रह्म ही है ॥ मैं ब्रह्म हूँ ॥ यह द्वैत जगत माया मात्र (मिथ्या) है; वास्तव में एक ब्रह्म ही सत्य है, इत्यादि) फिर उसे सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ देना चाहिए। भगवान श्री कृष्ण जी ने भी श्री मद्भगवद्गीता में कहा है—यस्त्वात्मरति रेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ अर्थात् जो पुरुष अपने आत्मा में ही प्रीति वाला तथा आत्मा में ही तृप्त एवम् आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई भी कर्तव्य (कर्म) नहीं है। और-नैव तस्य कृतेनार्थेनाकृतेनेह कश्चन । न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥

अर्थात्—न उसके लिये कर्म करने से कुछ अर्थ (प्रयोजन या फल) है तथा न करने से दोष भी नहीं है एवम् इस भूत समुदाय में किसी अर्थ का आश्रय भी नहीं है ॥ १७ ॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥ १८ ॥

पदच्छेदः—यदा, परात्मात्मविभेदकम्, विज्ञानम्, आत्मनि, एव, अवभाति, भास्वरम् । तदा, एव, माया, प्रतिलीयते, अञ्जसा, सकारकाः, कारणम्, आत्मसंसृतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यदा	=जिस समय
परात्मात्मविभेद भेदकम् ।	=परमात्मा और जीवात्मा के भेद को दूर करने वाला
भास्वरम्	=प्रकाशमय
विज्ञानम्	=विज्ञान
आत्मनि	=अन्तःकरण में
अवभाति	=प्रकाशित होता है,
तदा एव	=उसी समय
आत्मसंसृतेः	=आत्मा के लिए संसार प्राप्ति की कारण

माया =माया
अञ्जसा =अनायास
सकारका: =कारकादि के सहित
प्रविलीयते =लीन हो जाती है।

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी ।
विज्ञानमात्रादमलाद्द्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥१९॥

पदच्छेद:—श्रुतिप्रमाणात्, अभिविनाशिता:, च, सा, कथम्, भविष्यति, अपि, कार्य कारिणी । विज्ञान मात्रात्, अमल:, अद्वितीयत:, तस्मात्, अविद्या, न, पुन:, भविष्यति ॥ १९ ॥

अन्वय:— अर्थ—

श्रुतिप्रमाणात् =श्रुति-प्रमाण से
अभि बिनाशिताः =नाश हुई
च =फिर
सा =वह
कथम् =किस प्रकार
कार्यकारिणी =कार्य करने वाली
भविष्यति =हो सकती है,
तस्मात् =इस लिये

अद्वितीयतः =एक
निर्मलः =निर्मल
विज्ञान मात्रात् =विज्ञान मात्र से
पुनः =फिर
अविद्या =अविद्या
न भविष्यति =उत्पन्न नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार अन्धेरी रात में पड़ी हुई रस्सी को एक बार जान लेने से कि यह सर्पिणी नहीं है, किन्तु रस्सी है; सर्पिणी नष्ट ही हो जाती है, फिर वह अपना कार्य (भय) उत्पन्न नहीं कर सकती। वैसे ही "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म" "पुरुष एवेदंसर्वं" "शिवादन्यन्न किञ्चन" ॥ अर्थात् एकही अद्वितीय ब्रह्म है। यह सब जगत पुरुष ही है। कल्याण स्वरूप परमात्मा से अन्य कुछ भी नहीं है, इत्यादि श्रुति प्रमाण से उस अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर वह किस प्रकार अपना कार्य (कारकादि के सहित कर्म जनित स्वर्गादि) उत्पन्न कर सकती है? अर्थात् नहीं कर सकती है। इस लिये एक निर्मल ज्ञान मात्र के उदय होने पर फिर अविद्या उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥२०॥

पदच्छेदः—यदि, स्मः, नष्टाः, न, पुनः, प्रसूयते, कर्ता, अहम्, अस्य, इति, मतिः, कथम्, भवेत्। तस्मात्, स्वतन्त्रा, न, किम्, अपि अपेक्षते, विद्या, विमोक्षाय, विभाति, केवला ॥ २० ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यदि	=जब
स्मः	=एकबार
नष्टाः	=नष्ट हुई अविद्या
पुनः	=फिर
न प्रसूयते	=उत्पन्न नहीं होती,
तर्हि +	=(तो)
अस्य	=इस
बोधाःपुरुषम् +	=(बोधवान पुरुष को)
अहम्	=मैं
कर्ता	=कर्ता हूं,
इति	=ऐसी
मतिः	=बुद्धि
कथम्	=कैसे
भवेत्	=हो सकती है ?
तस्मात्	=इसलिये
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
स्वतन्त्रा	=स्वतन्त्र है,
जीवस्य +	=(जीव के)
विमोक्षाय	=मोक्ष के लिये

किम् अपि	=किसी की भी
न अपेक्षते	=अपेक्षा नहीं है
सा +	=(वह)
केवला	=अकेला ही
विभाति	=प्रकाशती है [समर्थ है]

भावार्थ---अरे ! अन्तः करण, इन्द्रियां, शरीर एवम इनके शुभाशुभ कर्म तथा कर्मों के फल धन, स्त्री, पुत्र, स्वर्ग, नरकादि, ये सब मिथ्या ही मेरे शुद्ध स्वरूप में प्रतीत होते थे। अहो! बड़ी खेद की बात है कि मैं अपने आनन्द स्वरूप को भूल कर कष्ट का अनुभव करता था। अहा हा ! बड़ा आश्चर्य है कि क्षण मात्र में संसार क्या हो गया ? अब तो पता ही नहीं कि इसको कौन उड़ा ले गया ? जब उत्पन्न हुई विद्या (ज्ञान) के द्वारा एक बार अविद्या के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त प्रकार का बोध हो जाता है, तो उस बोधवान को "मैं कर्ता हूँ", ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है ? ज्ञान के होते ही ज्ञान स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ नहीं रहते अर्थात् अनित्य हो जाते हैं। इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, वह जीव को अविद्याजनित कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूपी बन्धन से मुक्त करने में किसी की भी प्रतीक्षा न कर स्वयम् अकेला ही समर्थ है ॥ २० ॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणांस्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ॥ २१ ॥

पदच्छेदः--सा, तैत्तिरीयश्रुतिः, आह, सादरम्, न्यासम्, प्रशस्ताः, अखिलकर्मणाम, स्फुटम्,। एतावत्, इति, आह, च, वाजिनाम्, श्रुतिः, ज्ञानम्, विमोक्षाय, न, कर्म साधनम ॥ २१ ॥

अन्वयः--	अर्थ--
तैत्तिरीय श्रुतिः	=तैत्तरीय शाखा की श्रुति
सादरम	=आदर के सहित
स्फुटम्	=स्पष्ट
आह	=कहती है कि
अखिल कर्मणाम्	=सम्पूर्ण कर्मों का
न्यासम्	=त्याग
प्रशस्ताः	=श्रेष्ठ है
च +	=(और)
'एतावत्'	='एतावत्'
इति	=ऐसा
वाजिनाम्श्रुतिः	=वाजनेयी शाखा की श्रुति
अपि +	=(भी)
आह	=कहती है कि
विमोक्षाय	=मोक्ष के लिये
साधनम	=साधन
ज्ञानम्	=ज्ञान है
नकर्म	=कर्म नहीं।

भावार्थ--तैत्तिरीय शाखा की प्रसिद्ध श्रुति स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मों का त्याग करना अच्छा है। जैसे--न कर्मणा न

प्रजया न धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः । अर्थात् न कर्म से, न प्रजा से, न धन से अमृत (मोक्ष) की आशा पायी जाती है किन्तु केवल एक कर्मादि के त्याग से ही उसकी प्राप्ति होती है और वाजसनेयी शाखा की श्रुति भी कहती है—एतावादरे खल्वमृतत्वात् । अर्थात् अरे ! निस्सन्देह मोक्ष के लिए यह ज्ञान ही है कर्म नहीं, तथा श्री मच्छङ्कराचार्य जी ने भो 'विवेक चूणामणि' में कहा है—न सांख्येन न योगेन कर्मणा नोन विद्यया । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेनमुक्तिर्सिध्यति नान्यथा ॥ अर्थात् न सांख्य से, न योग से न कर्म से और न व्यावहारिक विद्या से मुक्ति होती है, किन्तु केवल एक जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान से ही होती है ॥ २१ ॥

विद्या समत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः ।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— विद्यासमत्वेन, तु, दर्शितः, त्वया, क्रतुः, न, दृष्टान्तः, उदाहृतः, समः । फलैः, पृथक्त्वात्, बहुकारकैः, क्रतुः, संसाध्यते, ज्ञानम्, अतः, विपर्ययम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—	अर्थ —
तु	=और
त्वया	=तूने
विद्यासमत्वेन	=ज्ञान की समानता से

क्रतुः	=यज्ञ (कर्म) का
दृष्टान्तः	=दृष्टान्त
उदाहृतः	=दिया, सो
समः	=समानता
न	=नहीं
दर्शितः	=दिखलायी देता है ।
फलैः	=फलों के
पृथक्त्वात्	=अलग होने से,
पुनः +	=(फिर)
क्रतुः	=यज्ञ
बहु कारकैः	=बहुत कारकों से
संसाध्यते	=सिद्ध होता है
च +	=(और)
ज्ञानम्	=ज्ञान
अतः	=इससे
विपर्ययम्	=विपरीत है ।

भावार्थ—वादी के कथन का स्मरण कराकर उत्तर देते हैं कि तुमने जो कहा था कि वेद विदित होने से यज्ञ और ज्ञान दोनों एक समान हैं । सो ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं । जैसे यहां कृषि आदि कर्मों के फल अन्नादि अनित्य हैं; वैसे ही यज्ञादि कर्मों के फल स्वर्गादि भी अनित्य ही है, जैसे श्री मद्भगवद्गीता में कहा है-ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥ अर्थात् वे यज्ञादि के करने वाले पुरुष

उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य के क्षीण हो जाने प
फिर मृत्यु लोक में गिर जाते हैं ॥ और ज्ञान का फल नित्य है
जैसे वेद में कहा है—तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति । अर्थात् उस परमा
त्मा के ही ज्ञान से पुरुष मृत्यु को जीतता है यानी अमर हो जाता
है । इसके अतिरिक्त कर्म कारकादि से सिद्ध होता है और ज्ञान
इसके विपरीत है अर्थात् उसमें कारकादि की आवश्यकता नहीं
पड़ती । क्योंकि अपना अज अविनाशी शुद्ध नित्य मुक्त आत्मा
स्वयं सिद्ध है, उसके जानने में अन्य कारकादि की क्या आवश्य
कता है ॥ २२ ॥

ममत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ॥ २३ ॥

पदच्छेदः—ममत्यवायः, हि, अहम्, इति अनात्मधीः, अज्ञा
नाम्, प्रसिद्धा, न, तु, तत्त्वदर्शिनः । तस्मात्, बुधैः, त्याज्यम्,
अविक्रियात्मभिः, विधानतः, कर्म, विधिप्रकाशितम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
अहम्	=मैं
हि	=अवश्य
मप्रत्यवायः	=पाप का भागी हूँगा
इति	=ऐसी
अनात्मधीः	=अनात्मबुद्धि

अज्ञानाम्	=अज्ञानियों को
प्रसिद्धा	=होती है,
तु	=परन्तु
नतत्वदर्शिनः	=तत्त्वदर्शियों को नहीं
तस्मात्	=इसलिए
अविक्रियात्मभिः	=विकार रहित चित्त वाले
बुधैः	=बोधवान पुरुषों के द्वारा
बिधिप्रकाशितम्	=वेदविहित
कर्म	=कर्मों का
विधानतः	=बिधि पूर्वक
त्याज्यम्	=त्याग करने योग्य हैं।

भावार्थ—पूर्व जो वादियों का कथन था कि कर्म के न करने में श्रुति दोष बतलाती है, उसका उत्तर देते हैं कि:-देहाभिमानी जो अज्ञानी हैं, उनको ऐसी अनात्म बुद्धि हुआ करती है कि मैं मनुष्य हूँ, वर्णी हूँ, आश्रमी हूँ, इसलिए अपने कर्मों के न करने से अवश्य दोष का भागी होऊंगा। श्रुति ने अज्ञानियों की अनात्म बुद्धि का ही अनुवाद करके उन अज्ञानियों से चित्त शुद्धि निमित्त कर्म कराने के लिए दोष बतलायी है। इसलिए निष्काम कर्म के द्वारा जिनका चित्त विकार रहित (शुद्ध) हो गया है उन बोधवान पुरुषों को विहित कर्मों का भी विधि पूर्वक त्याग कर देना चाहिए ॥ २३ ॥

———

महावाक्य-विचार।

श्रद्धान्वितस्तत्त्वम सीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्ध मानसः।
विज्ञाय चौकात्म्यमथात्म जीवयोः
सुखी भवेन्मेरु रिवा प्रकम्पनः ॥ २४ ॥

पदच्छेदः—श्रद्धान्वितः, तत्त्वमसि, इति, वाक्यतः, गुरोः, प्रसादात्, अपि, शुद्ध मानसः, विज्ञाय, च, ऐकात्म्यम्, अथ आत्मजीवयोः, सुखी, भवेत्, मेरुः, इव, अप्रकम्पनः ॥ २४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अथ	=फिर
शुद्धमानसः	=शुद्ध चित्त होकर
श्रद्धान्वितः	=श्रद्धा पूर्वक
गुरोः	=गुरू की
प्रसादात्	=कृपा से
तत्त्वमसि	='तत्त्वमसि'
इति	=इस प्रकार के
महावाक्यतः	=महावाक्य के द्वारा
आत्मजीवयोः	=परमात्मा और जीवात्मा की
एकात्म्यम्	=एकता को
विज्ञाय	=जान कर
मेरुः	=सुमेरु के

इव =समान
अप्रकम्पनः =निश्चल
च =और
सुखी =सुखी
भवेत् =हो जाय।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण! विहित कर्मों के त्याग करने के बाद वैराग्यवान् पुरुष शुद्ध चित्त हो कर अर्थात् लोकैषणा (सांसारिक प्रतिष्ठा की इच्छा) शास्त्रवासना, (मैं अद्वितीय शास्त्र-ज्ञाता हो जाऊं) वित्तैषणा (स्वर्णादि धन की इच्छा), पुत्रैषणा (पुत्र की इच्छा) इत्यादि सम्पूर्ण वासनाओं का परित्याग कर केवल आत्मतत्त्व जानने के लिए उत्कण्ठित हुआ श्रद्धा पूर्वक सद्गुरु के शरण जाय। और उस गुरु के वाक्य में संशय न करे कि यथार्थ है या अयथार्थ; किन्तु विश्वास रक्खे कि गुरु जी का कहना सब यथार्थ ही है। क्योंकि श्रीकृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनाश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ अर्थात् जो अज्ञानी श्रद्धाहीन और संशय चित्तवाला है, वह नष्ट हो जाता है। (सत्संग में पड़ कर अज्ञानी ज्ञानवान तथा अश्रद्धालु श्रद्धालु हो सकता है, परन्तु) संशयात्मा के लिए न तो यह लोक है, न परलोक है और सुख भी नहीं है। अतः संशय को छोड़ कर गुरु के मुखारविन्द से निकले हुए 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तू है, इस महावाक्य के विचार द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता जानकर सुमेरु पर्वत के तुल्य निश्चल अर्थात् रागद्वेष, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, आदि द्वन्दों से रहित एवं सुखी हो जाय॥ २४॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्म जीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ॥ २५ ॥

पदच्छेदः—आदौ, पदार्थस्य, अवगतिः, हि, कारणम्, वाक्यर्थस्य, विज्ञानम्, विधा, विधानतः। तत्, त्वम्, पदार्थौं, परमात्मा जीवकौ, असि, इति, च, एकात्म्यम्, अथ, अनयोः, भवेत्, ॥ २५ ॥

अन्वयः— अर्थ—

विधौ	=विधि वाक्यों में
विधानतः	=विधान होने से
हि	=निस्सन्देह
वाक्यार्थस्य	=वाक्यों के अर्थ के
विज्ञानम्	=जानने में
पदार्थस्य	=पदों के अर्थ का
अवगतिः	=ज्ञान
कारणम्	=कारण है,
तत्	=तत्
च	=और
त्वम्	=त्वम्
पदार्थस्य	=पदों के अर्थ

परमात्मजीवकौ =परमात्मा और जीवात्मा के हैं
तथाएव + =(वैसे ही)
असि ='असि'
इति =इस पद
अनयोः =इन दोनों की
एकात्म्यम् =एकता
भवेत् =होती है।

भावार्थ— वर्ण-समुदाय को शब्द और शब्दों के समुदाय को वाक्य कहते हैं, एवं जिस वाक्य से महान अर्थ की सिद्धि हो, उसे महावाक्य कहते हैं। इस नियम से 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य है, क्योंकि इसके विचार से जीव के सम्पूर्ण दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तीन पद (शब्द) होते हैं—तत् त्वम् और असि। शास्त्रों का यह नियम ही है कि किसी वाक्य के अर्थ जानने में पहले उस वाक्य के पदों (शब्दों) के अर्थ का ज्ञान कारण है। इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तत् पद परमात्मा का तथा त्वम् पद जीवात्मा का वाचक है। और असि पद इन दोनों (परमात्मा और जीवात्मा) की एकता करता है, अर्थात् तत् (वह) त्वम् (तू) असि (है), (वह (परमात्मा) तू (जीव) है) ॥ २५ ॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहायसङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत् ॥ २६ ॥

पदच्छेदः—प्रत्यक्, परोक्षादि, विरोधम्, आत्मनोः, विहाय, संगृह्य, तयोः, चिदात्मताम्, संशोधिताम्, लक्षणाया, च, लक्षिताम्, ज्ञात्वा, स्वम्, आत्मानम्, अथ, अद्वयः, भवेत्, ॥२६॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
आत्मनोः	=जीवात्मा और परमात्मा के
प्रत्यक्	=प्रत्यक् (अन्तःकरण का साक्षी)
च +	=(और)
परोक्षादि	=परोक्ष (इन्द्रियातीत) इत्यादि
विरोधम्	= विरोध को
विहाय	=परित्याग करके
च	=और
लक्षणया	=लक्षणा से (जो)
संशोधिताम्	=संशोधन पूर्वक
लक्षिताम्	=लक्षित
तयोः	=उनके
चिदात्मताम्	=चेतनता को
सङ्गृह्य	=ग्रहण कर
स्वम्	=अपना
आत्मानम्	=आत्मा
ज्ञात्वा	=जान कर
अथ	=फिर
अद्वयः	=अद्वितीय
भवेत्	=हो जाय।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा था कि—तत् पद परमात्मा, तथा त्वं पद जीवात्मा का वाचक है, एवं असि पद दोनों की एकता करता है। इस पर शंका होती है कि जब तत् पद का वाच्यार्थ जो परमात्मा है, वह माया उपाधि वाला, सर्वज्ञ, अपरिच्छिन्न, एक, मुक्त एवं परोक्ष (इन्द्रियातीत) है,। और त्वं पद का वाच्यार्थ जो अविद्या उपाधि वाला जीव है, वह अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, नाना, वद्ध एवं अपरोक्ष है, तब इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है? उत्तर—तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ में तो पूर्वोक्त विरोध अवश्य ही हैं, परन्तु वाच्यार्थ को छोड़ कर इन दोनों पदों का अच्छी प्रकार संशोधन (विचार) पूर्वक लक्षणा करें, फिर उस लक्षणावृत्ति से लक्षित जो दोनों का शुद्ध चेतन भाग बच जाता है, उसमें विरोध नहीं है। क्योंकि वह न सर्वज्ञ है न अल्पज्ञ, न व्यापक है न परिच्छिन्न,न एक है न अनेक, न मुक्त है न वद्ध एवं न परोक्ष है न अपरोक्ष, बल्कि वह सम्पूर्ण उपाधियों से रहित अनिर्देश्य है। उसी को अपना स्वरूप समझ कर उसमें एकी भाव से स्थित हो जाय॥ २६॥

एकात्मकत्वज्जहती न सम्भवे-
त्तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥ २७॥

पदच्छेदः—एकात्मकत्वात्, जहती, न, सम्भवेत्, तथा, अजहल्लक्षणाता, विरोधतः। सः, अयम्, पदार्थौ, इव, भागलक्षणा, युज्येत्, तत्त्वम्, पदयोः अदोषतः ॥ २७ ॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
अनयोः +	=(इन)
तत्त्वम् +	=('तत्' और 'त्वम्')
पदयोः +	=(पदों में)
एकात्मकत्वात्	=एक रूप होने के कारण
जहती	=जहती लक्षणा
न सम्भवेत्	=नहीं हो सकती
तथा	=वैसे ही
विरोधतः	=परस्पर विरोध होने के कारण
अजहल्लक्षणा	=अजहल्लक्षणा
अपि +	=(भी)
न सम्भवेत् +	=(नहीं हो सकती)
तस्मात् +	=(इसलिये)
सः अयम् +	='यह वही है'
अनयोः +	=(इन)
उभयोः +	=(दोनों)
पदार्थौ इव	=पदों के अर्थों के समान
तत्त्वम्	=तत् और त्वम्
पदयोः	=पदों में

अपि + =(भी)
भागलक्षणा =भाग त्याग लक्षणा
अदोषतः =निर्दोषता से
युज्येत् =करे।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा था कि—वाच्यार्थ रूप विरोध को छोड़ कर लक्षणावृत्ति से लक्षित चेतन भाग को ग्रहण करने से तत् और त्वम् पदों की एकता होती है। यहाँ शंका होती है कि वाच्यार्थ तथा लक्षणा किस को कहते हैं ? समाधान—पद (शब्द) अपनी शक्ति से जिस अर्थ को सिद्ध करता है, उस अर्थ को वाच्यार्थ अथवा शक्यार्थ कहते हैं, जैसे किसी ने कहा—'घटमानय, अर्थात् घट ले आ; यहां 'घट पद लाल वर्ण, गोल—उदर तथा छोटे मुख वाले मट्टी के पात्र घड़े को सिद्ध करता है अतः घट पद का वाच्यार्थ 'घड़ा' हुआ। और जहां वक्ता का अभिप्राय वाच्यार्थ से न निकले वहां लक्षणा की जाती है। वाच्यार्थ के सम्बन्धी अर्थ के ग्रहण को लक्षणा कहते हैं और उस सम्बन्धी अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं जैसे किसी ने कहा—मार्ग चलता है, या चूल्हा जलता है अथवा लाल दौड़ता है। यहां मार्ग पद का वाच्यार्थ रास्ता है, जो जड़ होने के कारण नहीं चल सकता तथा चूल्हा पद का वाच्यार्थ पाक बनाने का एक साधन विशेष है जो जलता नहीं है वैसे ही लाल पद का वाच्याथ एक रक्त वर्ण है जो जड़ होने के कारण दौड़ नहीं सकता; इन वाक्यों के वाच्यार्थ के ग्रहण से वक्ता के कथन का अभिप्राय नहीं निकलता। अतः इनमें

लक्षणावृत्ति करनी चाहिए, तो मार्ग पद का वाच्यार्थ जो रास्ता, उससे सम्बन्ध रखने वाला पथिक चलता है। तथा चूल्हा पद का वाच्यार्थ जो रसोई बनाने का साधन विशेष, उससे सम्बन्ध रखने वाला ईंधन जलता है। वैसे ही लाल पद का वाच्यार्थ जो रक्त वर्ण, उससे सम्बन्ध रखने वाला लाल घोड़ा दौड़ता है। यहां इतना भेद है कि:—वाच्यार्थ को त्याग कर केवल वाच्यार्थ के सम्बन्धी के ग्रहण को जहती लक्षणा कहते हैं, जैसे मार्ग तथा चूल्हे को त्याग कर पथिक एवं ईंधन का ग्रहण किया गया और वाच्यार्थ के सहित उसके सम्बन्धी का भी ग्रहण किया जाय, उसे अजहल्लक्षणा या अजहती लक्षणा कहते हैं; तथा वाच्यार्थ के किसी भाग को त्याग कर किसी भाग के ग्रहण को जहत्यजहति या भाग त्याग लक्षणा कहते हैं, जैसे किसी ने कहा:—यह सन्यासी वही राजा है यहां सन्यासी पद का वाच्यार्थ कषाय वस्त्र, दण्ड तथा कमण्डलधारी अकेला एकान्त वासो पुरुष है और राजा पद का वाच्यार्थ रेशम पिताम्बर छत्र, मुकुटादिधारी तथा मन्त्री आदि जन-समुदाय में सिंहासन पर बैठा हुआ पुरुष है। इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? और वक्ता कहता है कि—यह सन्यासी राजा है"। यहां पदों के पारस्परिक विरोध को मिटाने के लिए भाग त्याग लक्षणा करे, अर्थात् सन्यासी पद के वाच्यार्थ में जो कषाय वस्त्र, दण्ड, कमण्डल रूप जो उपाधि है, उसे त्याग दे फिर उपाधि रहित एक पुरुष हो बच जाता है; और राजा पद के वाच्यार्थ में जो रेशम पिताम्बर, छत्र, मुकुट, मन्त्री आदि जन

समुदाय एवं सिंहासन रूप उपाधि को त्याग देने से यहां भी केवल एक पुरुष ही बच जाता है। अब विचार किया जाय तो सन्यासी पद के वाच्यार्थ में जो पुरुष बचा था, वही इस राजा पद के वाच्यार्थ में बचा हुआ पुरुष है। क्योंकि वह राजा ही वैराग्य हो जाने के कारण अब सन्यास ले लिया है। अब वक्ता के वचन में कुछ विरोध नहीं रह गया।

पूर्व विवेचन के अनुसार जैसे एक ही पुरुष छत्र चमरादि उपाधि से राजा, एवं दण्ड, कमण्डलु, आदि से सन्यासी कहलाया। उसी प्रकार जो एक ही नित्य मुक्त शुद्ध निष्क्रिय चेतन है, वह अविद्या रूपी उपाधि से त्वं पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञ, बद्ध अनेक अपरोक्षादि धर्म वाला; जीवात्मा तथा माया रूपी उपाधि से तत् पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञ, मुक्त एक, इन्द्रियातीतादि धर्म वाला परमात्मा हुआ है। (रजोगुण तमोगुण से दबने वाला मलिन सतोगुण प्रधान को अविद्या और रजोगुण-तमोगुण से न दबने वाला शुद्ध सतोगुण प्रधान को माया कहते हैं)। श्रुति कहती है कि 'तत्त्वमसि' वह (परमात्मा) तू (जीव) असि (है)। यहां तत् पद के वाच्यार्थ जीव और त्वं पद के वाच्यार्थ परमात्मा में अत्यन्त विरोध है। अतः यहां लक्षणा करनी चाहिए। यदि जहती लक्षणा की जाय तो तत्पद और त्वं पद के वाच्यार्थ को त्याग देने से, साथ ही साथ चेतन का भी त्याग होकर कुछ बचता ही नहीं, और यहां दोनों चेतन की एकता का तात्पर्य श्रुति का है, अतः जहल्लक्षणा नहीं की जा सकती। और

अजहल्लक्षणा करने से भी विरोध दूर नहीं हो सकता, क्यों यहां प्रथम तो तत् और त्वम् पद के वाच्यार्थ ही में विरोध फिर अजहल्लक्षणा के द्वारा और अधिक के ग्रहण से वह विरो कैसे दूर हो सकता है ? अतएव यहां भाग त्याग लक्षणा कर ठीक है। जब त्वम् पद के वाच्यार्थ में का अविद्या भाग का त्या कर दिया गया, तब जीव के अविद्याजनित अल्पज्ञता, बद्ध नानापना, अपरोक्षतादि धर्मों का अभाव होकर केवल एक शु चेतन ही रह जाता है, और तत्पद के वाच्यार्थ में का माया भा का त्याग कर देने से परमात्मा के मायाजनित सर्वज्ञता, मुक्त एकपना, परोक्षादि सभी धर्म नष्ट हो कर केवल एक शुद्ध चेतन बच जाता है। अब विचार करके देखा जाय, तो त्वं पद के ब हुए शुद्ध चेतन से इस तत्पद के बचे हुए चेतन का परस्पर कुछ विरोध नहीं है, किन्तु दोनों एक ही निष्क्रिय शुद्ध अनिर्वचनी स्वरूप हैं। क्योंकि एक ही शुद्ध चेतन माया तथा अविद्या रू उपाधि से परमात्मपना तथा जीवपना को प्राप्त हुआ था। इ विषय को पूर्वोक्त सन्यासी तथा राजा के दृष्टान्त से स्पष्ट समझ चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से भाग त्याग लक्षणा के द्वारा तत् औ त्वम् पद के पारस्परिक विरोध रूपी दोष को दूर करने से जो एक निष्क्रिय शुद्ध तथा अनिर्वचनीय चेतन स्वरूप शेष रह जाता है उसमें अभेद भाव से स्थित (अर्थात् वह मैं हूँ) हो जाय ॥ २७

आत्मा और उसकी उपाधि।

रसादिपञ्चीकृत भूत सम्भवं
भोगालयं दुःख सुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २८॥

पदच्छेदः—रसादि पञ्चीकृत भूत सम्भवं, भोगालयम्, दुःख सुखादिकर्मणाम्। शरीरम्, आद्यवन्तवत्, आदिकर्मजम्, मायामयम्, स्थूलम्, उपाधिम्, आत्मनः॥ २८॥

अन्वयः—	अर्थ—
रसादिपंचीकृत भूत सम्भवः	=पृथ्वी आदि पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए,
दुःखसुखादि	=सुख दुःखादि
कर्मणाम्	=कर्मों के
भोगालयम्	=भोगों के आश्रय
आदि कर्मजम्	=पूर्वार्जित कर्मों से उत्पन्न
आद्यवन्तवत्	=आदि-अन्तवान्
मायामयम्	=मायामय
शरीरम्	=शरीर को
बुधाः +	=(ज्ञानीजन)
आत्मनः	=आत्मा की

स्थूलम् =स्थूल
उपाधिम् =उपाधि
मन्यन्ते -।- =(मानते हैं)

भावार्थः-जैसे किसी भी शक्तिमान पुरुष की शक्ति [समर्थ या बल] तब तक उससे अभिन्न होकर रहती है, जब कोई कार्य नहीं करता। फिर जब कोई कार्य करने लगता है, तब उसकी शक्ति प्रतीत होने लगती है। वैसेही सृष्टि से पहले प्रकृति ब्रह्म में अभेद रूप से रहती है, फिर जब पूर्व कल्प के जीवों के कर्म फल परिपक्व हो जाते हैं, तब उन जीवों के कर्म भोग निमित्त परमेश्वर सृष्टि की इच्छा करता है कि मैं स्वयं अनेक रूप में हो जाऊँ। इस प्रकार की इच्छा उस निरीह परमात्मा में उसके अचिन्त्य शक्ति के द्वारा होती है, उसी शक्ति को माया, अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, इत्यादि कहते हैं। वह शक्ति अपने कार्य जगत के सहित अज्ञानियों की दृष्टि से सत्य है और ज्ञानियों की दृष्टि से सूर्य की किरण में जलके समान मिथ्या है। इसलिये उसे न तो सत्य कह सकते हैं न असत्य। ऐसी सत्य और असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति के बल से परमेश्वर पहले आकाश रूप से प्रकट हुआ, फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी हुई। पुनः ईश्वरीयशक्ति से इन पाँच तत्त्वों के द्वारा एक पंचीकृत और दूसरी सृष्टि * हुई। यह स्थूल शरीरही पंचीकृत है।

* इन पंचीकृत और अपंचीकृत सृष्टियों का सविस्तार वर्णन मेरी लिखी हुई प्रेम वैराग्यादि वाटिका नाम की पुस्तक में है।

—अनुवादक

यह इस प्रकार से बना है—आकाश के दो बराबर हिस्से करके, उनमें से एक हिस्से के चार बराबर हिस्से किये, तो ये चार और पहला आधा मिल कर पाँच हिस्से हो गये। ऐसे ही शेष वायु आदि चार तत्त्वों के भी पाँच पाँच हिस्से कर दिये, फिर प्रत्येक तत्त्व के पाँच हिस्से में प्रत्येक तत्त्व के पाँच हिस्से इस प्रकार मिलाये कि उनके बड़े आधे भाग परस्पर न मिलें; किन्तु अलग अलग रहें। अब पाँच तत्त्व में पाँचों तत्त्व मिलकर बड़े-बड़े पाँच समुदाय हो गये, उन समुदायोंमें से प्रत्येक समुदाय में आकाशादि तत्त्वों के चार-चार छोटे हिस्से और एक-एक बड़े हो गये। जिस समुदाय में जिस तत्त्व का बड़ा हिस्सा है, वह समुदाय उसी तत्त्व का कहलाया। फिर प्रत्येक समुदाय के पाँच तत्त्वों से पाँच पाँच प्रकृतियाँ हुईं, जैसे—शोक, काम, क्रोध, मोह; और भय, ये आकाश वाले समुदाय के होने से आकाश की कहलायीं। यद्यपि ये सूक्ष्म शरीर की हैं, तथापि इनके आवेश होने पर इनके प्रभाव (चिन्ह) स्थूल शरीर में भी प्रतीत होने लगते हैं, अतः ये स्थूल शरीर की सृष्टि में कहीं गयीं। वास्तव में आकाश को–शिराकाश कंठाकाश, हृदयाकाश, उदराकाश और कट्यकाश ये पांच प्रकृत्तियां हैं, और चलन (चलना), वलन (बल लगाना), धावन (दौड़ना), प्रसारण (अङ्गों को फैलाना), और आकुञ्चन (अङ्गों को समेटना), ये पांच वायु की; क्षुधा, पीपासा, निद्रा, आलस्य और क्रान्ति ये अग्नि की; वीर्य, पसीना, रुधिर, मूत्र और कफ ये जल की; और अस्थि, नाड़ी, मांस, त्वचा और केश ये आकाश तत्त्व की प्रकृतियां हैं। यहां नख को अस्थि (हड्डी)

ऐं और लोम (रोवें) को केश में समावेश कर लेना चाहिए।

पूर्वोक्त प्रकार से पांच तत्त्वों को विभाग कर के परस्पर मिलाने से जो पच्चीस प्रकृत्तियां हुई हैं, उन्हीं से स्थूल शरीर बना है और इसी को पंचीकृत सृष्टि कहते हैं। भगवान राम कहते हैं कि – पृथ्वी आदि पांच तत्त्वों के पंचीकृत से उत्पन्न हुआ है, तथा जिसके आश्रय से अर्थात् जिसको धारण कर के प्राणी सुखदुःखादि रूप अपने कर्म भोगों को भोगते हैं एवं जो पूर्व जन्म के किये हुए कर्म फल से मिलता है, ऐसे मायामय (मिथ्या) आदि-अन्तवान अर्थात् उत्पत्ति-नाश वाले शरीर को तत्त्ववेत्ता पुरुष आत्मा की स्थूल उपाधि मानते हैं। उपाधि नाम आवरण (परदा) का और स्थूल नाम नेत्रों से दिखलायी देने वाले का है। नेत्रों से दिखलाई देने वाले अस्थिमान्समय स्थूल शरीर में अहन्ता कर के अर्थात् इसी को अपना स्वरूप मान कर जीव अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल गया है। अतएव आत्मा को छिपा (भुला) देने के कारण इस स्थूल शरीर को आत्मा की स्थूल उपाधि (परदा) कहते हैं ॥ २८ ॥

सूक्ष्मं मनो बुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥ २९ ॥

पदच्छेदः – सूक्ष्मम्, मनः, बुद्धि दशेन्द्रियैः युतम्, प्राणैः अपञ्चीकृतभूतसम्भवम्, भोक्तुः, सुखादेः अनुसाधनम्, भवेत्, शरीरम्, अन्यत्, विदुः, आत्मनः, बुधाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
मनः	=मन
बुद्धिः	=बुद्धि
दशेन्द्रियैः	=दश इन्द्रियों के
युतम्	=सहित
प्राणैः	=प्राण,
अपञ्चीकृतभूतसम्भवम्	=अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए
यः +	=(जो)
सुखादे भोक्तुः	=भोक्ता के, सुख दुःखादि का
अनुसाधनम्	=साधन है
भवेत्	=हो
इति +	=(ऐसे)
सूक्ष्म शरीरम्	=सूक्ष्म शरीर को
बुधाः	=ज्ञानीजन
आत्मनः	=आत्मा की
अन्यत्	=दूसरी
उपाधिम् +	=(उपाधि)
विदुः	=जानते हैं।

भावार्थ— पूर्व के श्लोक में पंची कृत भूतों से उत्पन्न हुये स्थूल शरीर को आत्मा की स्थूल उपाधि का वर्णन किया। अब अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीर का, जो आत्मा की दूसरी सूक्ष्म उपाधि है उसका वर्णन करते हैं—ईश्वर की अचिन्त्य

शक्ति के द्वारा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन प्रत्ये
भूतों के सतो गुण भाग से क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण
(नाक) ये पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुईं। ये प्रत्येक इन्द्रि
आकाशादि प्रत्येक भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गु
का क्रमशः ज्ञान करती हैं। फिर आकाशादि भूतों के रजो गु
भाग से क्रमशः वाक् (मुख) हाथ, पैर, लिंग और गुदा, ये पां
कर्म इन्द्रियां उत्पन्न हुईं इन इन्द्रियों के कर्म बोलना, ग्रहण कर
चलना, मूत्र त्यागना तथा मल त्यागना ये क्रमशः हैं। फि
पंच भूतों के मिले हुए सतोगुण भाग से मन, बुद्धि रूप अन्त
करण हुआ। मन का काम संकल्प-विकल्प तथा बुद्धि का निश्च
है। उन भूतों के मिले हुए रजोगुण भाग से प्राण, अपान, व्या
समान और उदान ये पांच प्राण हुए। प्राण हृदय में रह कर स्वा
ऽस्वास लेने का काम करता है।

अपान नाभि के नीचे रह कर मल मूत्र त्यागता है; व्या
सम्पूर्ण नाड़ियों में रह कर शरीर को पुष्ट करता है; समान ना
के ऊपर तथा हृदय के नीचे रह कर भोजन किये हुए अन्न के रस
धातुओं को शरीर के सम्पूर्ण नाड़ियों में बराबर बराबर बांट देता है
और उदान कण्ठ में रह कर मुखादि अङ्गों में क्रान्ति रखता है।

पूर्वोक्त प्रकार से अपंचीकृत आकाशादि भूतों से उत्पन्न पां
ज्ञान इन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण तथा मन एवं बुद्धि,
सत्रह तत्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसी सू
शरीर से भोक्ता (जीव) प्रारब्धजनित सुख-दुःखादि का अनु

करता है; और इस शरीर में अहंता कर के अर्थात् मैं सुनता हूँ, बोलता हूँ, मुझे भूख लगी है, प्यास लगी है, मैं संकल्प करता हूँ, निश्चय करता हूँ, इत्यादि ऐसा अहङ्कार कर के अपने आनन्द स्वरूप को भूल जाता है। इसलिये इस सूक्ष्म शरीर को तत्त्व वेत्ता पुरुष आत्मा की दूसरी सूक्ष्म उपाधि कहते हैं॥ २६॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
माया प्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधि भेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात्॥ ३०॥

पदच्छेदः—अनादिम्, अनिर्वाच्यम्, अपि, इह, कारणम्, माया प्रधानम्, तु, परम्, शरीरकम्, उपाधि भेदात्, तु, यतः, पृथक्, स्थितम्, स्वात्मानम्, आत्मनि, एव, अवधारयेत्, क्रमात्॥ ३०॥

अन्वयः—	अर्थ—
तु	=और
अनादिम्	=अनादि
अनिर्वाच्यम्	=अनिर्वाच्य
माया प्रधानम्	=माया मय
कारणम्	=कारण
शरीरकम्	=शरीर
अपि	=भी

इह	=इस जीव का
परम्	=स्थूल सूक्ष्म से भिन्न
शरीरम् +	=(शरीर है)
यत:	=इस लिये
उपाधि भेदात्	=उपाधि-भेद से
पृथक	=पृथक्
स्थितम्	=स्थित
स्वात्मानम्	=अपने आत्मा को
क्रमात्	=क्रमशः
आत्मनि	=हृदय में
एव	=ही
अवधारयेत्	=धारण करे।

भावार्थ—पूर्व के दो श्लोकों में स्थूल तथा सूक्ष्म उपाधियों का वर्णन कर के अब इस श्लोक में कारण रूप तीसरी उपाधि का वर्णन करते हैं—जिसका आदि न हो, ऐसे उत्पत्ति रहित पदार्थ को अनादि कहते हैं। इस प्रकार की अनादि माया है। यदि माया की उत्पत्ति मान भी ली जाय, तो उसका कारण कौन होगा? जगत् तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि माया का रचा हुआ कार्य है। तथा जीव और ईश्वर भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति में कहा है—विद्या चा विद्या स्वयं भवति। अर्थात् वह प्रकृति माया और अविद्या रूप से स्वयं होती है, फिर अपने उस शुद्ध सतोगुण प्रधान माया और मलि

सतोगुण प्रधान अविद्या रूपी उपाधि में शुद्ध ब्रह्म को प्रतिबिम्बित करके क्रमशः जीव तथा ईश्वर को कर देती है। जैसे श्रुति में कहा है—जीवेशावाभासेन करोति। इससे सिद्ध होता है कि जीव तथा ईश्वर भी माया ही से हुए हैं, अतः ये माया के कारण नहीं हो सकते। अब रहा शुद्ध ब्रह्म, उसको यदि माया का कारण मानः जाय तो वह विकारी हो जायेगा और श्रुति में वह अविकारी कहा गया है। फिर उसको कारण मानने में एक और भी दोष है, मुक्तावस्था में ब्रह्म रूप से स्थित जो मुक्त पुरुष हैं, वे फिर बद्ध हो जायेंगे, क्योंकि ब्रह्म से फिर कभी माया उत्पन्न हो कर जगत को रच देगी और मुक्त पुरुष अपने में संसार जन्य जन्म मरणादि नाना क्लेशों का अनुभव करने लगेंगे। इस रीति से बद्ध और मुक्त पुरुषों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। और श्रुति से भी विरोध पड़ेगा, क्योंकि श्रुति कहती है—नसपुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। अर्थात् वह मुक्त पुरुष संसार में नहीं लौटता है; नहीं लौटता है। तथा—'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'। तरति शोक मात्मवित्'। अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है इत्यादि।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि माया अनादि है। फिर कहते हैं कि माया अनिर्वाच्य है; जो वाणी का विषय न हो, उसे अनिर्वाच्य कहते हैं। इस रीति से माया को न सत्य कह सकते न असत्य; न ब्रह्म से भिन्न कह सकते और न अभिन्न; इत्यादि। यदि सत्य कहें तो उसका अभाव कभी भी नहीं होना

चाहिए, क्योंकि जिसका तीन काल में नाश न हो वह सत्य है परन्तु ज्ञान काल में माया का अभाव हो जाता है, अतः वह सत्य नहीं है। यदि असत्य कहें तो उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए क्योंकि असत्य पदार्थ को कभी भी प्रतीति नहीं होती, जैसे—वन्ध्या पुत्र। इसलिए माया सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वाच्य है वैसे ही यदि उसको ब्रह्म से भिन्न कहें तो श्रुति से विरोध होगा क्योंकि श्रुति कहती है—"एकमेवाद्वितीयंब्रह्म," "नेहनानास्ति किंचन"। अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है; यह नाना जगत् कुछ भी नहीं है, इत्यादि। और यदि उसको ब्रह्म से अभिन्न कहें तो इस नानात्व जगत् की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। पूर्वोक्त अनेक रीति से हम निश्चय नहीं कर पाये कि माया क्या वस्तु है, अतः हार मान कर यही कहना ही पड़ता है कि भाई! माया अनिर्वाच्य है।

वह अनादि एवं अनिर्वाच्य माया (अविद्या) ही जीव का तीसरा कारण शरीर है, यह कारण शरीर ही अपने आत्म स्वरूप को ढक लेने वाली महान् उपाधि है। इसी उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव की पूर्वोक्त सूक्ष्म तथा स्थूल उपाधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। सम्पूर्ण उपाधियों का मूल कारण होने से माया (अविद्या) को कारण तथा ज्ञान के द्वारा शीर्ण (नष्ट) हो जाने से शरीर कहते हैं। पूर्वोक्त स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण शरीर रूप तीनों उपाधियों को क्रमशः बाध (मिथ्या) करते हुए अपने आत्म स्वरूप को इनसे सर्वथा पृथक् अन्तःकरण में निश्चय करे। जैसे—जन्म है

पहले और मृत्यु के बाद एवं स्वप्न अवस्था में स्थूल शरीर नहीं रहती, तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता । क्योंकि यदि स्थूल शरीर की उत्पत्ति से पहले यह आत्मा नहीं रहता, तो इस शरीर से पूर्वार्जित प्रारब्ध को कैसे भोगता ? और यदि स्थूल शरीर के नाश के बाद नहीं रहता तो दूसरे शरीर (योनि) में कैसे जाता ? वैसे ही यदि स्वप्नावस्था में नहीं रहता, तो स्वप्न सृष्टि का अनुभव कैसे करता ? इससे सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर मिथ्या है और आत्म स्वरूप इससे भिन्न है अर्थात् सत्य है। सुषुप्ति तथा समाधि अवस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर नहीं रहते, और सुषुप्ति सुख एवं समाधि सुख का अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान रहता है, अतः सूक्ष्म शरीर मिथ्या है और अपना आत्म स्वरूप इससे पृथक् है । ज्ञान हो जाने पर एवं समाधि अवस्था में माया और माया जनित जाग्रतादि तीन अवस्थाएं नहीं रहतीं । समाधि अवस्था में तो इनका अत्यन्त ही अभाव हो जाता है और समाधि से उत्थान होने पर ये मिथ्या रूप से प्रतीत होती हैं, जैसे—चलती हुई नौका पर बैठा हुआ पुरुष नदी के तटस्थ वृक्षों को चलते देखता हुआ भी उनको स्थिर मानता है। भगवान राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! तीनों उपाधियों को मिथ्या कर के अपने हृदय में शुद्ध सच्चिदानन्द घन आत्म स्वरूप को निश्चय करें ॥ ३० ॥

उपाधिका बाध ।

—※※∘※※—

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा ।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः—कोशेषु; अयम्, तेषु, तु, तत्, आकृतिः, विभाति, सङ्गात्, स्फटिकः, यथा । असंगः, रूपः, अयम्, अजः, यतः अद्वयः, विज्ञायते, अस्मिन्, परितः, विचारिते ॥ ३१ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
स्फटिकः उपलः	=स्फटिक मणि के
यथा	=समान
अयम्	=यह आत्मा
तेषु	=उन
तेषु +	=(उन)
कोशेषु	=कोशों में
तत् तत्	=उस उस
आकृतिः	=आकृति को
विभाति	=भासता है,
तु	=परन्तु
अस्मिन्	=इसका

परितः =भलीभांति
विचारिते =विचार करने पर
अयम् =यह
अद्वयः =अद्वितीय
यतः =होने के कारण
असंगरूपः =असंग रूप
च + =(और)
अजः =अजन्मा
विज्ञायते =जाना जाता है।

भावार्थ—कोश पांच हैं जैसे—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय *। तलवार रखने वाले म्यान को कोष कहते हैं। जिस प्रकार म्यान में छिपी हुई तलवार दिखलायी नहीं देती, उसी प्रकार पूर्वोक्त पांच कोषों के ओट में यह आत्मा छिपा हुआ प्रतीत नहीं होता है। पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहते हैं तथा अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीर में प्राण-मय, मनोमय और विज्ञानमय, ये तीन कोश हैं। पांच प्राण के सहित कर्मेन्द्रियां प्राणमय कोश ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन मनोमय कोश ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश और कारण शरीर जो अविद्या है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। जैसे-लाल पुष्प पर रखी हुई स्फटिक मणि में उस पुष्प की लाली परिपूर्ण दिखलायी देती है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मणि लाल पुष्प ही है।

* इन कोशों का सविस्तर वर्णन मेरी लिखी हुई 'ज्ञानामृत' नाम की पुस्तक में है। —अनुवादक।

वैसेही स्वरूप से निर्मल आत्मा भी उन पांच कोशों के संग से उन कोशों के आकार सरीखे प्रतीत होता है। (उन कोशों में अहं बुद्धि का होना ही उसका प्रतीत होना है)। परन्तु भली भांति विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि यह आत्मा इनसे भिन्न और असंग है। जैसे श्रुति कहती है आत्मै वेदं सर्वं। अर्थात् यह सब आत्मा ही है। इस श्रुति प्रमाण से एक अद्वितीय आत्मा के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। जब कोई भी पदार्थ नहीं रह गया, तो इन पांच कोशों का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? ये तो मृगतृष्णा के जल के समान केवल प्रतीति मात्र हैं। जिस प्रकार मिथ्या मृग तृष्णा के जल से पृथ्वी गीली नहीं हो सकती, उसी प्रकार उन कोशों से आत्मा की रंचक भी क्षति नहीं हो सकती, किन्तु वह असंग ही रहेगा। फिर उन कोशों का भाव और अभाव हुआ करता है अर्थात् कभी रहते हैं और कभो नहीं रहते। परन्तु आत्मा का तो जन्म ही नहीं होता और यह अजन्मा होने से बढ़ता नहीं, वृद्धि के अभाव से परिणाम को प्राप्त नहीं होता अर्थात् एक रूप से दूसरे रूप में नहीं होता। परिणाम के अभाव से तरुण नहीं होता, और तरुणता के अभाव से क्षीण नहीं होता और क्षीणता के अभाव से नष्ट नहीं होता, अत; यह आत्मा षट् विकारों से रहित है। और इस आत्मा को वे जड़कोश नहीं जानते, परन्तु यह उनको जानता है, अतः उनसे भिन्न है ॥ ३१ ॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते

स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।

अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतोमृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः—बुद्धेः, त्रिधा, वृत्तिः, अपि, इह, दृश्यते, स्वप्नादि भेदेन, गुणत्रयात्मनः। अन्यः, अन्यतः, अस्मिन्, व्यभिचारतः, मृषा, नित्ये, परे, ब्रह्मणि, केवले, शिवे ॥ ३२ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
इह	=इस
गुणत्रयात्मनः	=त्रिगुणात्मिका
बुद्धेः	=बुद्धि की
अपि	=ही
स्वप्नादिभेदेन	=स्वप्नादि भेद से
त्रिधा	=तीन प्रकार की
वृत्तिः	=वृत्तियां
दृश्यते	=दिखायी देती हैं,
अस्मिन्	=इन वृत्तियों का
अन्यः	=दूसरी में
अन्यतः	=दूसरी से
व्यभिचारतः	=व्यभिचार होने से
केवले	=एक मात्र
शिवे	=कल्याण स्वरूप
नित्ये	=नित्य
परेब्रह्मणि	=पर ब्रह्म में
मृषा	=मिथ्या

भावार्थ—कारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं, जैसे-मिट्टी के कार्य घड़े में मिट्टी अवश्य रहती है। इस नियम के अनुसार यह अखिल विश्व ब्रह्म में त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा रचे जाने के कारण जगत के हर एक पदार्थ में तीन गुण हैं, अतः एव बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका होती है, उस बुद्धि की ही गुणमयी वृत्तियां जागृति स्वप्न और सुषुप्ति रूप से दिखलायी देती हैं। जैसे जब बुद्धि की वृत्ति सतोगुण प्रधान होती है, तो जागृति अवस्था होती है; उस जागृति अवस्था में जीव जगत के नाना पदार्थों का ज्ञान करता है। और जब वही बुद्धि-वृत्ति रजोगुण प्रधान होती है, तो यह जीव स्वप्न अवस्था के सूक्ष्म भोगों को भोगता है, तथा तमोगुण प्रधान होने से सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। उस अवस्था में ऐसा तमोगुण बढ़ जाता है कि किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता अर्थात् सभी पदार्थ अविद्या में लीन हो जाते हैं। उस समय उस तमोगुण प्रधान अविद्या का अनुभव करने वाला केवल एक आत्मा ही रह जाता है।

पूर्वोक्त बुद्धि की तीनों वृत्तियों में से हर-एक का एक दूसरी में व्यभिचार है, जैसे जब सतोगुण प्रधान वृत्ति, जागृति अवस्था के रूप में होती हैं, तब राजसी तथा तामसी वृत्ति रूप स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं नहीं रहतीं, परन्तु उस जागृति अवस्था का द्राष्टा आत्मा रहता है। और जब बुद्धि-वृति राजसी रूप स्वप्न अवस्था को धारण करती है, तब जागृति और सुषुप्ति का अभाव रहता है परन्तु उस स्वप्न अवस्था को देखने वाला आत्मा उस समय भी विद्यमान रहता है। फिर जब बुद्धि-वृत्ति तामसी रूप सुषुप्ति अवस्था

को प्राप्त होती है, तब जागृति तथा स्वप्न ये दोनों अवस्थाएं नहीं रहतीं, परन्तु वहां भी उस सुषुप्ति अवस्था का अनुभव करने वाला आत्मा रहता ही है, अतः आत्मा का तीनों अवस्थाओं में अन्वय (विद्यमान) होने से यह एक मात्र सत्य है और तीनों अवस्थाओं के परस्पर व्यभिचार (एक में दूसरी का अभाव) होने से वे मिथ्या हैं। ये तीनों अवस्था एक मात्र कल्याण स्वरूप नित्य परों ब्रह्म में मिथ्या (कल्पित) हैं, जैसे—सीपी में चाँदी की मिथ्या ही कल्पना हो जाया करती है॥ ३२॥

देहेन्द्रिय प्राण मनश्चिदात्मनां
संघादजस्रं परिवर्तते धियः।
वृत्तिस्तमो मूल तयाऽज्ञ लक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः॥ ३३॥

पदच्छेदः—देहेन्द्रियप्राणमनः, चिदात्मनाम्, संघात्, अजस्रम्, परिवर्तते, धियः। वृत्तिः, नमः, मूलतया, अज्ञलक्षणा, यावत्, भवेत्, तावत्, असौ, भवोद्भवः॥ ३३॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
धियः	=बुद्धि की वृत्ति
एव +	=(ही)
देहेन्द्रिय प्राण मनः	=देह, इन्द्रिय, प्राण, मन,
च +	=(और)
चिदात्मनाम्	=चेतन आत्मा के

संघात्	=संघात से
अजस्रम्	=निरन्तर
परिवर्तते	=परिवर्तित होती रहती है।
एषा +	=(यह)
वृत्तिः	=वृत्ति
तमः मूलतया	=तमोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण
अज्ञ लक्षण	=अज्ञान रूपा है
च +	=(और)
यावत्	=जब तक
असौ	=यह
भवेत्	=रहती है
तावत्	=तब तक
भवोद्भवः	=संसार में जन्म होता रहता है

भावार्थ— जैसे राजा की सभा में नटी राजा के रिझाने के लिये अपना अनेक रूप बनाती है। वैसेही यह बुद्धि की वृत्ति रूपी नटी हृदयरूपी सभा में जीवरूपी राजाको मोहित करने के लिये अनेक स्वांग बनाती है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि एक आत्मा के सिवा देह, प्राणादि संघात नहीं है, परन्तु उस आत्मा में यह बुद्धिवृत्ति अपना अनेक रूप बनाया करती है अर्थात् जैसी-जैसी कल्पना करती है, वैसी-वैसीही हो जाया करती है। कभी देह, कभी इन्द्रिय, कभी प्राण और कभीमन का स्वांग और कभी चेतन आत्मा से मिली हुई अपना रूप बना लेती है। जैसे—जबतक राजा नटी के स्वरूप को सच्चा जान कर आशक्तिपूर्वक देखता रहता है, तभीतक

अपने स्वांगों को दिखलाया करती है। परन्तु जब वह राजा यह जान कर कि 'ये नटी के स्वांग मिथ्या हैं' उपेक्षा कर देता है अर्थात् उससे उदासीन हो जाता है, तब वह अपना स्वांग बनाना बन्द कर वहां से शीघ्र ही भाग जाती है। वैसे ही यह जीव राजा श्रुतिवाक्यों का विचार करते-करते जब यह जान कर कि 'यह जो कुछ देह, इन्द्रियादि का संघात है, सो मिथ्या बुद्धि का विकार मात्र है' इन देहादि से रागद्वेष रहित हुआ उदासीन हो जाता है, यह तमोगुण से उत्पन्न होने के कारण अज्ञानरूपा बुद्धिवृत्ति नाना प्रपञ्चरूप अपने स्वांगों को समेट कर अपने अधिष्ठान आत्मा में लय (अन्तर्धान) हो जाती है; फिर पता ही नहीं लगता कि कहां चली गयी। जबतक यह रहती है, तबतक निस्सन्देह संसार में जन्म हुआ करता है ॥३३॥

नेति प्रमाणेन निकृताखिलो
हृदा समास्वदितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्त सद्रसं
पीत्वा यथाऽम्भः प्रजहातितत्फलम् ॥३४॥

पदच्छेदः—नेति, प्रमाणेन, निकृतः, अखिलः, हृदा, समास्वदितचिद्घनामृतः। त्यजेत्, अशेषम्, जगदात्त सद्रसम्, पीत्वा, यथा, अम्भ, प्रजहाति, तत्, फलम्, ॥ ३४ ॥

अन्वयः— अर्थ:—

नेति =नेति-नेति,
प्रमाणेन =प्रमाण से
अखिलं =सम्पूर्ण जगत का

निराकृतः	=बाध (खण्डन) करके
हृदा	=हृदय में
जगदात्त सद्रसम्	=उस जगत के सार रस
समास्वदितचिद्घनामृतः	=चिद्घनामृत का आस्वादन क
अशेषम्	=सम्पूर्ण (जगत) को
त्यजेत्	=त्याग दे,
यथा	=जैसे
अम्भः	=जल को
पीत्वा	=पीकर
तत्	=उस (नारियल) के
फलम्	=फल को
प्रजहाति	=फेंक देते हैं।

भावार्थ—नारियल फल के रस को तबतक प्राणी नहीं पाते जबतक कि उसके ऊपर कठोर छिलके (परदे) को तोड़ नहीं देते। वैसे ही जबतक जगत की सत्यता का अध्यास (भ्रम) रूपी परदा दृढ़ हो रहा है, तबतक उसके ओट में छिपे हुए अपने आत्म स्वरूप सच्चिदानन्द घनामृत का मिलना कठिन है। इसलिये जैसे प्राणी उस नारियल के ऊपर के कठोर छिलके को तोड़ कर उसके रस को पी जाते हैं, फिर उस असार फल को फेंक देते हैं। वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि 'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाण से सम्पूर्ण जगत की सत्यता (अध्यास) रूपी परदे को नष्ट कर उस हृदय में साररूप अपने आत्म स्वरूप सच्चिदानन्द घनामृत का पान करे और सम्पूर्ण जगत का परित्याग कर दे अर्थात् उसमें की अहंता और ममता (मैं, मेरापन) को दूर कर दे ॥ ३४ ॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
नक्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः ।
निरस्त सर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः——कदाचित्, आत्मा, न, मृतः, न, जायते, न, क्षीयते न, अपि, विवर्धते, अनवः । निरस्तः, सर्वातिशयः, सुखात्मकः, स्वयम्प्रभः, सर्वगतः, अयम्, अद्वयः, ॥ ३५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
आत्मा	=आत्मा
कदाचित्	=कभी
न जायते	=न जन्मता है,
न विवर्धते	=न बढ़ता है,
न क्षीयते	=न क्षीण होता है,
अनवः	=न नवीन होता है
च	=(और)
न मृतःअपि	=मरता भी नहीं है।
सः +	=(वह)
निरस्तः	=अलुप्त,
सर्वातिशयः	=सबसे अधिक
सुखात्मकः	=सुख स्वरुप
स्वयंप्रभः	=स्वयं प्रकाश

सर्वगतः =सर्व गत
च + =(और)
अद्वयः =अद्वियीय है।

भावार्थ—वह आत्मा अनादि होने से कभी जन्मता नहीं, अजन्मा होने से बढ़ता नहीं, वृद्धि रहित होने के कारण न तो क्षीण होता है और न नष्ट ही होता है एवं वह नवीन भी नहीं होता है। वह सब से परे होने से किसी भी विशेषण के योग्य नहीं है और शिव विष्णु आदि तो मायिक हैं। उस आत्मा के किसी एक देश में माया की कल्पना की गयी है। जब कि उस आत्मा के सामने माया तुच्छ ही है तो शिव, विष्णु आदि उसकी तुलना में कैसे आ सकते? फिर वह आत्मा सुख स्वरूप है। यदि सुख स्वरूप न होता तो उसकी प्राप्ति से सकल दुःखों की निवृत्ति श्रुति में क्यों कहा होता? जैसे—तरति शोकमात्मवित्। अर्थात् आत्म वेत्ता पुरुष शोक से दूर चला जाता है। तथा अपना आत्मा किसी को भी अप्रिय नहीं होता; बल्कि निरतिशय प्रिय होता है। इससे जाना जाता है कि वह आनन्द स्वरूप है, क्योंकि आनन्द के ही लिए किसी वस्तु में प्रेम होता है; दुखमय वस्तु में प्रेम कहीं भी नहीं देखा जाता। पुनः वह स्वयं प्रकाश है, जिसका कोई भी प्रकाश न हो और वह सबका प्रकाश हो, उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं; ऐसा एक आत्मा ही है। श्री कृष्ण जी ने भी कहा है—न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥ अर्थात् उस आत्मा को न सूर्य प्रकाशता, न चन्द्रमा

और न पावक। उसको पाकर प्राणी फिर इस संसार में नहीं लौटते वही मेरा परम धाम (स्वरूप) है। वह आत्मा स्वयं प्रकाश होने से सब का प्रकाशक है, जैसे—श्रुतिः तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति। अर्थात् उस आत्मा के प्रकाश होने पर ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, इत्यादि ये सभी उसके ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। फिर वह आत्मा सबका अधिष्ठान होने सर्वगत एवं उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुओं के मिथ्या होने से अद्वितीय है॥ ३५॥

अध्यास-निरूपण।

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथंभवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयते विरोधतः क्षणात्॥ ३६॥

पदच्छेदः—एवम्, विधे, ज्ञानमये, सुखात्मके; कथम्, भवः दुखमयः, च प्रतीयते। अज्ञानतः, अध्यासवशात्, प्रकाशते, ज्ञाने, विलीयते, विरोधतः, क्षणात्॥ ३६॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम् विधे	=इस प्रकार
ज्ञानमये	=ज्ञान स्वरूप
च +	=(और)
सुखमये	=सुख स्वरुप में
दुःखमयः	=दुःख स्वरुप
भवः	=संसार
कथम्	=कैसे
प्रतीयते	=प्रतीत हो सकता है।
इदम् +	=(यह संसार)
अध्यास वशात्	=अध्यास (भ्रम) के कारण
अज्ञानतः	=अज्ञान से
एव +	=(ही)
प्रकाशते	=प्रतीत होता है,
ज्ञाने	=ज्ञान से
क्षणात्	=क्षण मात्र में
विलीयते	=विलीन हो जाता है,
विरोधतः	=ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध होने से

भावार्थ—जैसे सीपी के अज्ञान से भ्रम वस उस सी में चांदी प्रतीत होने लगती है, परन्तु जब सीपी का ज्ञान हो जा है, तब वह चांदी मिथ्या हो जाती है। वैसे ही अपने सच्चिदान

स्वरूप के अज्ञान से यह असत्य, जड़, एवं, दुख स्वरूप जगत उसमें प्रतीत होता है। जब पूर्व श्लोक के अनुसार अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह संसार क्षण मात्र में लय हो जाता है। क्योंकि सत चित्त (ज्ञान) एवं आनन्द स्वरूप आत्मा में असत्, जड़ एवं दुख रूप संसार रह ही कैसे सकता है? यह तो अज्ञान से ही प्रतीत होता है, जो ज्ञान होने से शीघ्र ही लय हो जाता है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है॥ ३६॥

यदन्यदन्यत्र बिभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ ३७॥

पदच्छेदः—यत्, अन्यत्, अन्यत्र, विभाव्यते, भ्रमात्, अध्यासम, इति, आहुः, अमुम्, विपश्चितः। असर्पभूते, अहि, विभावनम्, यथा, रज्ज्वादिके, तद्वत्, अपि ईश्वरे, जगत्॥ ३७॥

अन्वयः— **अर्थ**—

भ्रमात्	=भ्रम से
यत्	=जो
अन्यत्	=दूसरा पदार्थ
अन्यत्र	=दूसरे जगह
प्रतीयते	=प्रतीत होता है
अमुम्	=उसी को

विपश्चितः	=ज्ञानी जन
अर्ध्यासम्	=अध्यास
इति	=करके
आहुः	=कहते हैं।
यथा	=जिस प्रकार
असर्पभूते	=असर्प रुप
रज्ज्वादि के	=रस्सी आदि में
अहि	=सर्प की
विभावनम्	=प्रतीति होती है,
तद्वत्	=उसी प्रकार
ईश्वरे	=ईश्वर ने
जगत्	=जगत्
प्रतीयते +	=(प्रतीत हो रहा है)

भावार्थ—जो भ्रम से दूसरे पदार्थ में दूसरे पदार्थ की प्रतीत होती है, उसीको ज्ञानियों ने अध्यास कहा है। वह अध्यास, अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास, इस भेद से दो प्रकार का होता है। किसी पदार्थ में मिथ्या आरोपित पदार्थ को अर्थाध्यास और उसके ज्ञान को ज्ञानाध्यास कहते हैं। इन दोनों में ज्ञानाध्यास तो एक ही प्रकार का होता है, क्योंकि जो-जो पदार्थ आरोपित होंगे, उनका-उनका ज्ञान होगा। परन्तु संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास के भेद से अर्थाध्यास दो प्रकार का होता है। किसी पदार्थ के स्वरूप का अध्यास न हो, बल्कि केवल उसके सम्बन्ध का ही हो, उसे संसर्गाध्यास और जिसका स्वरूप का अध्यास हो, उसे स्परूपाध्यास कहते हैं। संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास दोनों मिल कर

अन्योन्याध्यास कहा जाता है। इस नियम के अनुसार आत्म और अनात्म पदार्थों का परस्पर अन्योन्याध्यास है। आत्मा का अनात्म पदार्थों में केवल संसर्गाध्यास है, क्योंकि केवल उसकी सत्ता तथा चेतनता के सम्बन्ध से ही अनात्म पदार्थ सत्य एवं चेतन से प्रतीत हो रहे हैं। जो उसके सत् तथा चित् स्वरूप का अध्यास होता तो अनात्म पदार्थों के ज्ञान से सच्चित् स्वरूप आत्मा का अभाव हो जाता। क्योंकि यह नियम ही है कि अधिष्ठान (जिस पदार्थ में अध्यास हो) के ज्ञान से कल्पित पदार्थ का अत्यन्त अभाव हो जाता है। परन्तु असत् तथा दुःख रूप अनात्म पदार्थों के ज्ञान से सच्चित स्वरूप आत्मा का अभाव नहीं होता, अतएव आत्मा का अनात्म पदार्थों में संसर्गाध्यास है, और सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों का आत्मा में स्वरूपाध्यस है, क्योंकि आत्म ज्ञान होने पर इनका स्वरूप से अभाव हो जाता है। जिस प्रकार सर्प के न होते हुए भी भ्रम से रस्सी में सर्प का अध्यास हो जाता है उसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में भी असत् जड़ तथा दुःख रूप संसार के न रहते हुए भी भ्रम से इसकी प्रतीति हो रही है॥ ३७॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहंकार एष प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्व कारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ ३८॥

पदच्छेदः—विकल्प माया रहिते, चिदात्मके, अहंकारः, एषः, प्रथमः, कल्पितः । अध्यासः, एष, आत्मनि, सर्वकारणे निरामये, ब्रह्मणि, केवले, परे ॥ ३८ ॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
विकल्प माया रहिते	=विकल्प और माया से रहित
सर्व कारणे	=सबके कारण
निरामये	=निरामय
केवले	=अद्वितीय
चिदात्मके	=चित् स्वरूप
परे आत्मनि	=परमात्मा
ब्रह्मणि	=ब्रह्म में
प्रथमः	=पहले पहल
एव	=निश्चय करके
एष	=यह
अहंकारः	=अहंकार रूप
अध्यासः	=अध्यास
भवति +	=(होता है)

भावार्थ—उस पर ब्रह्म परमात्मा में न तो संकल्प-विकल्प है और न त्रिगुणात्मिका माया ही है, बल्कि वह अकेला क्लेश रहित सबका कारण और चेतन स्वरूप है। उसमें पहले पहल 'अहं' (मैं) इस प्रकार के अध्यास के होने के बाद ही और पदार्थों का अध्यास (प्रतीत) होता है। इस विषय का अनुभव सबको है, जैसे—अपने में पहले 'अहं' (मैं) ऐसा प्रतीत न हो

तो किसी भी पदार्थ की प्रतीति तथा कोई भी व्यवहार न हो। क्योंकि पर ब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप आत्मा है। इस श्लोक में भगवान ने माया से रहित तथा सब का कारण परब्रह्म को बतलाया, इससे नैयायिकों को परमाणुवाद तथा सांख्यों के प्रकृतिवाद का खण्डन हो गया। क्योंकि ये परमाणु एवं प्रकृति से सृष्टि मानते हैं। अद्वितीय (अकेला) कहने से भेदवादियों के द्वैत, विशिष्टाद्वैत, इत्यादि सिद्धान्तों का खण्डन हुआ। और 'उस परमात्मा में पहले-पहल सृष्टि का मूलभूत अहंकार का ही अध्यास हुआ' यह कहने से नैयायिकों के आरम्भ वाद (जो परमाणुओं के संयोग से ही सृष्टि मानते हैं) एवं सांख्यों के परिणाम वाद (जो सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानते हैं) का खण्डन हो कर वेदान्तियों का विवर्त्तवाद सिद्ध होता है। क्योंकि विवर्त्तवाद में किसी भी पदार्थ की सच्ची उत्पत्ति नहीं मानी जाती, बल्कि पदार्थ के न रहते हुए भी भ्रम से उसकी प्रतीति हो जानी सृष्टि है। जैसे—स्थाणु (ठूंठे वृक्ष) में चोर भ्रांति हो जाती है, वैसे ही एक ही ब्रह्म में मूल कारण अहंकार के सहित यह सकल विश्व प्रतीत हो रहा है। इसलिए इस जगत का ईश्वर अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। जिस पदार्थ के बिना कोई पदार्थ न रह सके उसे उपादान कारण, (जैसे मिट्टी के बिना घट) और जिसके बिना कार्य न हो एवं हो जाने पर उसके बिना भी रह सके, (जैसे घट का कारण कुम्हार) उसे निमित्त कारण कहते हैं। इस रीति से इस जगत का उपादान तथा निमित्त कारण एक ईश्वर ही है। श्रुति भी कहती है—यतो

वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य भिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व ॥ अर्थात् जिससे यह समस्त प्राणी उत्पन्न होकर जीवित (स्थित) रहते हैं । और जिसमें फिर लय हो जाते हैं, वही ब्रह्म है, उसी को जानने की इच्छा करो ॥ ३८ ॥

इच्छादिरागादि सुखादिधर्मिकाः
सदाधियः संसृतिहेतवः परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः—इच्छादि रागादि सुखादि धर्मिकाः, सदा, धियः संसृतिः, हेतवः, परेयस्मात्, प्रसुप्तौ, तत्, अभावतः, परः, सुख स्वरूपेण, विभाव्यते, हि, नः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
परे	=साक्षी आत्मा में
इच्छादि रागादि सुखादि धर्मिकाः	=इच्छा, अनिच्छा, राग द्वेष, सुख दुखादि रूप
धियः	=बुद्धि की वृत्तियां
सदा	=सर्वदा
संसृतिः	=जन्म-मरण स्वरूप संसार की
हेतवः	=कारण हैं,
यस्मात्	=क्योंकि

सुषुप्तौ	=सुषुप्ति में
तत्	=इनका
अभावतः	=अभाव हो जाने से
नः	=हमें
परः	=आत्मा
हि	=निस्सन्देह
सुखस्वरूपेण	=सुख स्वरूप से
विभाव्यते	=प्रतीत होता है।

भावार्थ— नैयायिक जो इच्छा, अनिच्छा, राग, द्वेष, सुख, दुख, धर्म, अधर्म, संस्कार, प्रयत्न, इत्यादि धर्म आत्मा के मानते हैं, उनका भगवान खण्डन करते हैं कि— साक्षी आत्मा में बुद्धि की ही वृत्तियां इच्छा, अनिच्छा, राग, द्वेष और सुख दुखादि रूप से हुआ करती हैं। प्राणी उन वृत्तियों को भ्रम से अपने आत्मा में आरोपित कर लेते हैं, अतएव उनके लिये वे जन्म-मरणरूप संसार की कारण हो जाती हैं। यदि इच्छादि धर्म आत्मा के होते, तो इनकी प्रतीति सुषुप्ति अवस्था में भी होती, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का अभाव नहीं रहता है। परन्तु उस अवस्था में तो बुद्धि की वृत्तियों के अभाव होने से राग, द्वेषादि का पता नहीं रहता; बल्कि आत्मा सुख स्वरूप से प्रतीत होता है। फिर जागृति तथा स्वप्न अवस्था में बुद्धि-वृत्तियों के उदय हो जाने पर इच्छादि धर्म प्रतीत होने लगते हैं, इससे जाना जाता है कि इच्छादि धर्म बुद्धि के ही हैं, आत्मा के नहीं। भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है— इच्छाद्वेष्य सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, चेतना, (प्राण)

धैर्य और इनका पारस्परिक संघात, इन विकारों के सहित क्षेत्र का वर्णन किया गया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त विकार क्षेत्र (सूक्ष्म शरीर) के ही हैं, आत्मा के नहीं। श्रुति में भी कहा है—कामःसंकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिर्भीर्ह्रीर्सर्वं मनएवेति। अर्थात् कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, भय और लज्जा, ये सब मन के ही धर्म हैं, इति। मन और बुद्धि, ये सूक्ष्म शरीर में ही हैं ॥ ३९ ॥

अनाद्यविद्योद्भव बुद्धि बिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्या परिच्छिन्न परः स एव हि ॥ ४० ॥

पदच्छेदः—अनादि, अविद्योद्भवः, बुद्धि विम्बितः, जीवः प्रकाशः, अयम्, इति, ईर्यते; चितः, आत्मा, धियः साक्षितया, पृथक् स्थितः, बुद्ध्या, परिच्छिन्नात्, परः, सः, एव, हि ॥ ४० ॥

अन्वयः —	अर्थ —
अनादि	= अनादि
अविद्योद्भवः	= अविद्या से उत्पन्न हुई
बुद्धिप्रतिविम्बितः	= बुद्धि में प्रति विम्बित
अयम्	= यह
चेतः	= चेतन का
प्रकाशः	= प्रकाश
जीवः	= जीव

इति	=ऐसा
ईर्यते	= कहलाता है ।
धियः	=बुद्धि का
साक्षितया	=साक्षी होने से
आत्मा	=आत्मा
पृथक्	=पृथक्
स्थितः	=स्थित है
सः	=वह
परः	=परमात्मा
एवहि	=निस्सन्देह
बुद्धया	=बुद्धि के
परिच्छिन्नात्	=परिच्छेद से
परः	=परे (रहित) है ।

भावार्थ—जैसे जल से परिपूर्ण घड़े में दो आकाश होते हैं, एक तो वह आकाश है, जो उसमें व्यापक रह कर उसको अवकाश देता है, इसी कारण से जलमें गम्भीरता तथा स्थिरता रहती है, और दूसरा प्रतिविम्ब रूप से रहता है । इन दोनों आकाश में से पहला जो उसे अवकाश दिया है, वह तो उस जल के विकारों से रहित है, और दूसरा जो प्रतिविम्ब रूप से है, वह स्वरूप से अविकारी होता हुआ भी उसमें जल के सकल विकार प्रतीत होते हैं, जैसे—जल की चंचलता से चंचलता, स्थिरतासे स्थिरता, मलीनता से मलीनता एवं स्वच्छता से स्वच्छता प्रतीत होती है । उसी प्रकार इस शरीररूपी घट में बुद्धि (अन्तःकरण) रूपी जल भरा है; उस बुद्धि में दो चेतन हैं, एक तो वह है, जो बुद्धि में रह कर उसे अव-

काश दिया है और दूसरा वह, जो कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित है। इनमें से जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन है, उसे जीव कहते हैं, स्वरूप से निर्विकार होता हुआ भी उसमें बुद्धि के सकल धर्म प्रतीत होते हैं, जैसे—शुभाशुभ कर्मों का कर्तापन तथा उसके फल स्वरूप पुण्य-पाप का भोक्तापन एवं भली-बुरी योनियों में गमनागमन इत्यादि। दूसरा जो उस बुद्धि को अवकाश देने वाला (अधिष्ठान) चेतन है, वह बुद्धि को उसके सम्पूर्ण धर्मों के साथ देखता (जानता) हुआ उससे उदासीन (राग-द्वेष से रहित) रहता है, अतएव वह निर्विकार, असंग एवं परमात्म-स्वरूप है। उसकी असंगता में श्रुति प्रमाण भी है, जैसे—असंगोह्यं पुरुषः। अर्थात् वह साक्षी पुरुष निस्सन्देह असंग है। उस असंग पुरुष का ही वह चेतन जीव प्रतिबिम्ब होने से वास्तव में वह उसका स्वरूप ही है। जब उस जीव को अपने असंग स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो उसके सम्पूर्ण दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है॥ ४०॥

चिद्बिम्ब साक्ष्यात्म धियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्त लोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जड़ाजड़त्वं च चिदात्मचेतसोः॥४१॥

पदच्छेदः—चिद्बिम्ब, साक्ष्यात्म, धियाम, प्रसंगतः, तु, एकत्र, वासात्, अनलाक्तलोहवत्। अन्योन्यम्, अध्यासवशात्, प्रतीयते, जड़ाजड़त्व, च, चिदात्मचेतसोः॥ ४१॥

अन्वयः—	अर्थ—
तु	=परन्तु
अनलाक्त लोहवत्	=तपे हुये लोह के समान
चिद् बिम्ब	=चिदाभास
सादयात्मा	=साक्षी आत्मा
च +	=(और)
धियाम्	=बुद्धि के
प्रसंगतः	=परस्पर
एकत्र वासात्	=एकत्र होनेसे
अन्योन्यम् अध्यासम्	=अन्योन्याध्यास के
वशात्	=कारण
क्रमात् +	=क्रमशः
चिदात्म चेतसो	=चिदाभास और साक्षी आत्माको
जड़ाजड़त्वम्	=जड़ता और चेतनता
प्रतीयते	=प्रतीत होती है।

भावार्थ—शुद्ध, असंग एवं चिदानन्द साक्षी का स्वरूप जीव अनादि का लेस अन्योन्याध्यास (भ्रम) के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ उस बुद्धि के जड़ता दुःखादि धर्मों को अपने में आरोपित कर के अपने शुद्ध स्वरूप साक्षी को जड़ता दुःखादि धर्मों वाला मानता है, और उस सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी से प्रति बिम्बित हुई असत् जड़तादि रूप बुद्धि को सच्चित् रूप मानता है। बुद्धि आदि अनात्म पदार्थों के जड़तादि धर्म और चेतन आत्मा का चेतनादि धर्म, ये परस्पर मिले हुए कैसे प्रतीत होते हैं कि जैसे—

अग्नि से तपायमान लोह पिण्ड में अग्नि और लोहे का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने से अग्नि को उष्णता लोहे में तथा लोहे का आकार अग्नि में दिखलायी देता है ॥ ४१ ॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जात विद्यानुभवो निरीक्ष्य तम् ।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जड़मात्मगोचरम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः—गुरोः, सकाशात्, अपि, वेदवाक्यतः, सञ्जातम्, विद्या, अनुभवः निरीक्ष्य, तम् । स्वात्मानम्, आत्मस्थम्, उपाधिवर्जितम्, त्यजेत्, अशेषम्, जड़म्, आत्मगोचरम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः--	अर्थ--
गुरोः	=गुरु के
सकाशात्	=समीप से
अपि	=और
वेद वाक्यतः	=वेद वाक्यों से
सञ्जातम्	=उत्पन्न हुये
विद्या	=आत्म ज्ञान का
अनुभवः	=अनुभव होने पर
आत्मस्थम्	=हृदय में स्थित
तम्	=उस
उपाधि वर्जितम्	=उपाधि रहित

स्वात्मानम्	=अपने आत्मा को
निरीक्ष्य	=साक्षात्कार करके
आत्मगोचरम्	=आत्मारूप से दिखायी देनेवाले
अशेषम्	=सम्पूर्ण
जड़म्	=जड़ पदार्थों को
त्यजेत्	=त्याग दे ।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—गुरु के समीप रहने से अर्थात् गुरू को साष्टाँग प्रणाम और उनकी सेवा एवं उनसे विनम्र भाव से प्रश्न करने तथा उनके मुखारविन्दु से निकले हुये वेद वाक्यों के विचार से आत्मज्ञान होता है। साष्टांग प्रणाम का नियम यह है—शिरसा- उरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। कराभ्यां पदाभ्यां जानूभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते ॥ अर्थात् शिर से उर से, दृष्टि से, मन से, वाणी से, हाथों से, पैरों से, तथा जानुओं (ठेहुनों) से अष्टांग प्रणाम होता है। वेद वाक्य दो प्रकार के होते हैं, एक अवान्तर वाक्य और दूसरा महावाक्य। जो जीवात्मा और परमात्मा को सकल पदार्थों से अलग करके पृथक्-पृथक् वर्णन करे उसे अवान्तर वाक्य कहते हैं जैसे श्रुति-एषोऽन्तर ज्योतिः पुरुषः। अर्थात् यह जो हृदय में ज्योति यानी देह, इन्द्रियादि अनात्म वर्गों का साक्षी है, वह पुरुष (आत्मा) है, इत्यादि। यह जीवात्मा के प्रति अवान्तर वाक्य हुआ और परमात्मा के प्रति यह है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अर्थात् (असत्य जड़ तथा शांत रूप संसार से भिन्न) सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, इत्यादि। जो आत्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादक हो उसे महावाक्य

कहते हैं, जैसे—तत्त्वमसि। अर्थात् वह (परमात्मा) तू (जीव) है। यह सामवेद का महावाक्य है और "प्रज्ञान मानन्दं ब्रह्म।" अर्थात् आनन्द स्वरूप प्रज्ञान हो (आत्मा) ब्रह्म है। यह अथर्ववेद का महावाक्य है और 'अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं ब्रह्म हूं। यह यजुर्वेद का महावाक्य है। और "अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है। यह ऋग्वेद का महावाक्य है। सद्गुरु के वाक्यों में यदि श्रद्धा-विश्वास हो, तो उनके अवान्तर वाक्यों से आत्म ज्ञान परोक्ष होता है, अर्थात् यह जाना जाता है कि मैं देह, इन्द्रियादि जड़ पदार्थ नहीं हूँ, बल्कि इनका द्रष्टा हूँ। फिर महावाक्यों को अनुभव (विचार) करने से आत्म ज्ञान अपरोक्ष होता है, अर्थात् ऐसा बोध होता है कि मैं सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म हूँ। इसी परोक्ष ज्ञान को ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। पूर्वोक्त रीति से परोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक गुरु तथा वेदान्त वाक्यों में अश्रद्धा एवं अविश्वास और अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक अविचार है। जिस प्रकार किसी की कोई प्रिय वस्तु भूल गयी हो, और वह दुःखित हो कर उसकी प्राप्ति निमित्त अनेक प्रयत्न करता हो, परन्तु वह मिलती न हो। इतने ही में कोई यथार्थ वक्ता पुरुष उससे कहे कि तेरी प्रिय वस्तु खोयी नहीं है; बल्कि अमुक गृह में रक्खी है। यदि वक्ता के वचन से उस पुरुष का विश्वास होगा, तब तो अपनी खोयी हुई वस्तु का ज्ञान उसे हो जायगा, परन्तु विशेष रूप से ज्ञान तो अपनी आंखों से देखने ही पर होगा। अन्धे को विश्वास रहते हुए भी न तो वह वस्तु दिखलायी देगी और न प्राप्त ही होगी। इस रीति से गुरु शास्त्र महावाक्य द्वारा केवल आत्म ज्ञान का प्रकाश करते हैं, तत्त्व को पा जाना तो अपने अनुभव (विचार) पर ही

निर्भर है । अतः मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि अनुभव के द्वारा अपने हृदय में स्थित अविद्यादि, उपाधि से रहित आत्मा का साक्षात्कार करके आत्म रूप से प्रतीत होने वाले देहादि समस्त जड़ पदार्थों का त्याग करदे अर्थात् यह समझ जाय कि मैं देहादि नहीं हूँ, ये मेरे शुद्ध मुक्त स्वरूप में मिथ्या ही प्रतीत होते हैं ॥ ४२ ॥

——

आत्म-चिन्तन ।

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो-
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः ।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ॥ ४३ ॥

पदच्छेदः—प्रकाशरूपः, अहम्, अजः अहम्, अद्वयः, असकृत्, विभातः, अहम्, अतीव, निर्मलः । विशुद्ध विज्ञान घनः, निरामयः, सम्पूर्ण, आनन्दमयः, अहम्, अक्रियः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
अहम्	=मैं
प्रकाशरूपः	=प्रकाशस्वरूप,
अजः	=अजन्मा,
अद्वयः	=अद्वितीय,
असकृत्	=निरन्तर

विभाति	=भासमान,
अतीव	=अत्यन्त
निर्मलः	=निर्मल
अस्मि +	=(हूं)।
च +	=(पुनः)
अहम्	=मैं
विशुद्धविज्ञानघनः	=विशुद्ध विज्ञान घन,
निरामय	=निरामय
अक्रियः	=क्रिया रहित
च +	=(और)
सम्पूर्णः	=एक मात्र
आनन्दमयः	=आनन्दस्वरूप
अस्मि +	=(हूं)

भावार्थ—आत्म ज्ञान होने के बाद ज्ञानी पुरुष का आत्म-चिन्तन जैसे—दीपक अपने समीप के विद्यमान पदार्थों को प्रकाशता है और उनके न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित रहता है। वैसे ही मैं इन जड़ देह इन्द्रियादि के विद्यमान रहने पर इन्हें प्रकाशता (जानता) हूँ और सुषुप्ति और समाधि अवस्था में इनके अभाव को प्रकाशता हूँ, परन्तु ये मुझे कभी नहीं जानते। इसलिए मैं प्रकाश (चेतन) गुण वाला नहीं हूँ, बल्कि प्रकाशस्वरूप हूँ। फिर स्थूल शरीर का जन्म होता है; मेरा नहीं, क्योंकि मैं अजन्मा हूँ। मुझ आत्मा के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, वे सभी माया मात्र मिथ्या हैं, वस्तुतः मैं ही एक अद्वितीय हूँ, जैसे श्रुति —मायामात्र

मिदंद्वैतमद्वैतं परमार्थतः। पुनः शिशु, कुमार, किशोर, युवा, जरा, बृद्ध, स्थविर एवं गभ; ये सभी अवस्थाएं प्रकृति के गुणों के अनुसार बदलती रहती हैं अर्थात् एक के वाद दूसरी और दूसरी के वाद तीसरी का क्रमशः अभाव हुआ करता है। परन्तु मैं इनको जानने वाला चेतन इन सब में भासमान रहता हूँ, अतएव मैं निरन्तर प्रकाशमान हूँ, जैसे श्लोक—शिशु कुमार किशोर युवा जरा, वृद्धस्थविर गर्भस्प्रति देहिनाम्। विकृति जन्म गुणादि च भिद्यते, चिदपि चैक निरन्तर भास्यते ॥ १ ॥ जब तक बच्चे खड़े नहीं होते, तब तक शिशु; पांच वर्ष की अवस्था तक कुमार; सोरह वर्ष तक किशोर; जब तक केश न पकने लगें या इन्द्रियों की शक्ति नष्ट न होने लगे, तब तक युवा; शरीर से बिल्कुल चल-फिर न सकने पर स्थविर और माता के पेट में गर्भ अवस्था होती है। फिर मैं निर्गुण होने से अत्यन्त निर्मल तथा विशुद्ध विज्ञानघन एवं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश; इन पांच क्लेशों से रहित निरामय हूँ। देहादि अपवित्र पदार्थों में पवित्र बुद्धि, स्वर्गादि अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि, हिंसा करने तथा मद-मांसादि खाने के फल स्वरूप दुःख में सुख बुद्धि करनी एवं देहादि अनात्म पदार्थों को आत्मा मानना अविद्या है; और जो दूसरों के जानने में न आवे, ऐसे हृदय के सूक्ष्म अहंकार को अस्मिता प्रेम को राग, शत्रुता को द्वेष और मृत्यु से डरने को अभिनिवेश कहते हैं। पुनः मैं अवयव रहित होने से निष्क्रिय एवं एक मात्र आनन्द स्वरूप हूँ। मुझ आनन्द स्वरूप के व्यापक होने से शब्दादि विषयों में मेरा तादात्म्य सम्बन्ध है, अतएव विषयी पुरुषों को सम्बन्धाध्यास के कारण उन विषयों में आनन्द प्रतीत होता है; वे यह नहीं जानते कि वह

विषय सुख मुझ आत्मा का ही झलक है ॥ ४३ ॥

सदैव मुक्तोऽमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः—सदा, एव, मुक्तः, अहम्, अचिन्त्यशक्तिमान्, अतीन्द्रियज्ञानम्, अविक्रियात्मकः। अनन्तपारः अहम्, अहर्निशम्, बुधैः, विभावितः, अहम्, हृदि, वेदवादिभिः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अहम्	=मैं
सदा एव	=सदा ही
मुक्तः	=मुक्त,
अचिन्त्यशक्तिमान्	=अचिन्त्य शक्ति वाला,
अतीन्द्रिय ज्ञानम्	=इन्द्रिय-ज्ञान से परे,
अविक्रियात्मात्मकः	=अविकृत रूप
च +	=(और)
अनन्तपारः	=अनन्त पार हूँ।
वेदवादिभिः	=वेद-वादी
बुधैः	=पण्डित जन के द्वारा
अहम्	=मैं
अहर्निशम्	=रात-दिन

हृदि =हृदय में
विभावितः =चिन्तन किया जाता हूं।

भावार्थ—मुझ प्रकाश स्वरूप में तमस्वरूप अविद्या अपने कार्य अहंकारादि के सहित तीन काल में नहीं है। क्योंकि प्रकाश और अंधकार में अत्यन्त विरोध है, इसलिये मैं सर्वदा ही मुक्त हूँ। जिस प्रकार नेत्र की वृत्ति अपने से दूर पदार्थ को ही देखती है, नेत्र के अत्यन्त समीप अञ्जन को नहीं देख सकती। उसी प्रकार बुद्धि (अन्तः करण) अपनी वृत्ति के द्वारा अपने से दूर के पदार्थ को ही जान सकती है, अपने में व्यापक मुझ अधिष्ठान को नहीं जान सकती। बुद्धि के वृत्ति में अथवा नेत्र को वृत्ति में यदि मैं प्रकाशस्वरूप नहीं रहता, तो वे वृत्तियां आवरण-भंग करती हुई भी किसी भो पदार्थ को जान नहीं सकतीं। जैसे,—अंधकार के बीच किसी पात्र में रत्न रखा हो, तो उस आवरणरूप पात्र को दण्ड से तोड़ कर नष्ट कर देने पर भी जब तक दीपक आदि का प्रकाश न होगा, तब तक वह दिखलायी न देगा। वैसे ही मुझ चेतन के प्रकाश से जड़ मन बुद्धि अपना अपना काम करते हैं, परन्तु वे मुझको नहीं जानते; अतएव मैं अचिन्त्य हूँ। पंचभूतों के रजोगुण से उत्पन्न होने के कारण कर्मेंद्रियां किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकती हैं; वल्कि केवल अपना-अपना काम करती हैं। परन्तु पंचभूतों के सतोगुण से उत्पन्न होने से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, ये क्रमशः शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंध का ही ज्ञान करती हैं, मुझ अन्तर्व्यापी आत्मा को नहीं जान सकतीं। इसलिये मैं इन्द्रियातीत हूँ। और उत्पत्ति

तथा अवयव रहित होने के कारण अविकृत रूप (विकार रहित स्वरूप) हूँ। फिर, देश, काल, वस्तुरूप परिच्छेद एवं स्वगत स्वजातीय, विजातीयरूप भेद से रहित होने से मैं अनन्तपार हूँ। व्यापक होने से मुझमें देशपरिच्छेद, तीनकाल अबाधित सत्यस्वरूप होने से कालपरिच्छेद और सबका अधिष्ठान होने से वस्तु परिच्छेद भी नहीं है। अवयव रहित होने से मुझमें स्वगत भेद नहीं है; और मुझ अद्वितीय चेतन के अतिरिक्त दूसरे चेतन के अभाव होने से मुझमें स्वजातीय भेद नहीं है, जीवचेतन और ईश्वर चेतन के अभाव होने से मुझमें स्वजातीय भेद नहीं है, जीव चेतन और ईश्वरचेतन, ये दोनों अविद्या तथा मायारूपी उपाधि के कारण मुझसे भिन्न प्रतीत होते हैं; वास्तव में वे मुझसे अभिन्न हैं। पुनः अद्वितीय होने से मुझमें विजातीय भेद भी नहीं है। मुझसे भिन्न जो माया है, वह अपने कार्य जगत के सहित मुझ में मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। वेद-वादी पण्डितजन 'तत्वमस्यादि' महा-वाक्यों से लक्षणावृत्ति के द्वारा रात-दिन अपने हृदय में मेरा चिन्तन करते हैं ॥ ४४ ॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
बिचारमाणस्य विशुद्धभावना ।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ॥ ४५ ॥

पदच्छेद:—एवम्, सदा, आत्मानम्, अखण्डितात्मना, विचारमाणस्य, विशुद्धभावना। हन्यात्, अविद्याम्, अचिरेण, कारकैः, रसायनम्, यद्वत्, उपासितम्, रुजः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम्	=इस प्रकार
आत्मानम्	=आत्मा का
अखण्डितात्मना	=अखण्डवृत्ति से
विचारमाणस्य	=विचार करने वाले की
विशुद्धभावना	=विशुद्ध भावना
अचिरेण	=शीघ्र ही
कारकैः	=कारकों के सहित
अविद्याम्	=अविद्या का
हन्यात्	=नाश कर देती है,
यद्वत्	=जिस प्रकार
उपासितम्	=सेवन की हुई
रसायनम्	=औषधि
रुजः +	=(रोग को)
हन्यात् +	=(नष्ट कर देती है।)

भावार्थ—पूर्व के तैंतालीस एवं चौवालीसवें श्लोक के अनुसार अपने स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुष की भावना विशुद्ध हो जाती है अर्थात् उसके हृदय की सान्सारिक बासनायें नष्ट हो कर एक ब्रह्म तत्त्व ही प्रकाशता है। जिस प्रकार संयम, अनुपानादि नियमों के द्वारा सेवन की हुई औषधि रोग को नष्ट कर डालती है, उसी प्रकार नित्यमुक्त शुद्ध सच्चिदानन्दमय भावना के द्वारा शीघ्र ही कारकादि के सहित अविद्या का नाश हो

जाता है। फिर उसकी दृष्टि में कर्ता कर्म तथा कर्मफल नहीं रह जाते, किन्तु जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ सिवा आत्म स्वरूप के दूसरा कुछ प्रतीत ही नहीं होता, यही सच्ची समाधि है। जैसे कहा है— देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥ अर्थात् अपने आत्म स्वरूप परमात्मा को जान लेने पर एवं देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही समाधियाँ हैं॥ ४५॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः॥ ४६॥

पदच्छेद—विविक्त, आसीनः, उपारतः, इन्द्रियः, विनिर्जितात्मा, विमलः, अन्तराशयः। विभावयेत्, एकम्, अनन्यः साधनः, विज्ञानदृक्, केवल, आत्मसंस्थितः॥ ४६॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
विविक्त	=एकान्त में
उपारतेन्द्रियः	=इन्द्रियों को विषयों से हटा कर
च +	=(और)
विनिर्जित ः—	=अन्तः करण को वश में करके
आसीनः	=बैठे

पुनः + =(फिर)
आत्म संस्थितः =आत्मा में स्थित होकर
अनन्य साधनः =दूसरे साधन का आश्रय न लेकर
विमलः =शुद्ध
अन्तराशयः =चित्त हुआ
केवलः =केवल
ज्ञानदृक् =ज्ञान दृष्टि से
एकम् =एक आत्मा की ही
विभावयेत् =भावना करे।

भावार्थ—आत्म-चिन्तन करने वाले पुरुष को चाहिये कि जहां विषयी पुरुषों का जमाव न हो; सर्प, बिच्छू, आदि हिंसकः जीव न हों, बहुत ऊंची या नीची पृथ्वी न हो; गंगा आदि का तट या कोई देव मन्दिर हो; ऐसे एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक कर और अन्तःकरण में सांसारिक वासनाओं को न आने देता हुआ कुशा, मृगचर्म, कम्बल, वस्त्र आदि का आसन लगा कर बैठे; फिर अपने शुद्ध सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप में स्थित हुआ भूत, देवतादि की पूजा; यज्ञादि कर्म, अनात्म विषयक ग्रन्थों का अवलोकन; इत्यादि दूसरे साधनों का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टि के द्वारा तेंतालीस एवं चौवालीसवें श्लोक के अनुसार आत्मा की ही भावना करे ॥ ४६ ॥

विश्वं यदेतत्परमात्म दर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे ।

पूर्णश्चिदानन्दमयोवतिष्ठते
न वेदवाह्यं न चकिञ्चिदान्तरम् ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः—विश्वम्, यत्, एतत्, परमात्म दर्शनम्, विलापयेत्, आत्मनि, सर्वकारणे। पूर्णः, चिदानन्दमयः, अवतिष्ठते, न, वेद, वाह्यम्, न, च, किञ्चित्, आन्तरम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः--		अर्थ--
एतत्		=यह
यत्		=जो
विश्वम्		=विश्व है
तत्		=(सो)
परमात्मदर्शनम्		=परमात्म स्वरूप है,
इति ज्ञात्वा	÷	=(ऐसा जानकर)
सर्वकारणे		=सब के कारण
आत्मनि		=आत्मा में
विलापयेत्		=लय करे,
इति प्रकारेण	÷	=(इस प्रकार)
यः	÷	=(जो)
पूर्णः		=पूर्ण
चिदानन्द मयः		=चिदानन्द स्वरूप से
अवतिष्ठते		=स्थित हो जाता है,
सः	÷	=वह
नवाह्यम्		=न बाहर

वेद =जनता है
च =और
न किञ्चित =न कुछ
आन्तरम् =भीतर
वेद -|- =(जानता है।)

भावार्थ — यह विश्व परमात्मा का स्वरूप है, जैसे श्रुति पुरुषसवेदं सर्वं। ब्रह्मै वेदं सर्वं। वासुदेवः सर्वं। शिवादन्यन्न किञ्चन। अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष ही है, 'यह सब विश्व ब्रह्म ही है,' 'यह सब वासुदेव स्वरूप है,' 'शिव से भिन्न कुछ नहीं है,' इत्यादि। पुरुष, ब्रह्म, वासुदेव, शिव, इत्यादि ये सब एक ही परमात्मा के पर्याय शब्द हैं। इस रीति से जब यह विश्व परमात्म स्वरूप ही है और 'अयमात्मा ब्रह्म,' इस श्रुति के अनुसार यह आत्मा ही परमात्मा है, इसलिए इस विश्व को सबके कारण रूप आत्मा में लय करे। जैसे—पूर्व के अठाइस एवं उनतीसवें श्लोक के अनुसार यह अखिल ब्रह्माण्ड पञ्चभूतों से बना है। इसलिए पांच तत्त्वों से भिन्न नहीं है। फिर जैसे जल से उत्पन्न हुआ बर्फ जल स्वरूप ही होता है, वैसे ही जल से उत्पन्न हुई पृथ्वी जल स्वरूप ही है और अग्नि से उत्पन्न हुआ जल अग्नि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में लय किया। पुनः आकाश को परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति माया में और माया को परमात्मा में लय कर दिया; क्योंकि शक्तिमान् से शक्ति भिन्न नहीं होती। अब एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह गया, इस प्रकार लय चिन्तन के द्वारा जो पूर्ण सच्चिदानन्द रूप से स्वयं स्थित हो जाता है, वह न तो कुछ बाहर

जानता है, और न भीतर। क्योंकि देश, काल, वस्तु, आकाश, दिशा, बाहर, भीतर, इत्यादि ये सब भेद माया के रचे हुए थे, जब वह सब के कारण माया को अपने आत्म स्वरूप में लय कर दिया, तो उसके लिए बाहर भीतर, इत्यादि कोई भी भेद न रह गया। न तो अनुभव करने योग्य कोई पदार्थ रह गया और न स्मरण करने योग्य। जैसे लवण की पुतली समुद्र में मिल कर समुद्र रूप हो जाती है, वह अपने और समुद्र को भिन्न-भिन्न नहीं देखती। वैसे ही वह पुरुष एक ही अद्वितीय रूप से स्थित हो जाता है ॥ ४७ ॥

ओंकारोपासना।

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥ ४८ ॥

पदच्छेदः—पूर्वम्, समाधेः, अखिलम्, विचिन्तयेत्, ओङ्कारमात्रम्सचराचरम्, जगत्। तत्, एव, वाच्यम्, हि, वाचकः, विभाव्यते, अज्ञानवशात्, न, बोधतः ॥ ४८ ॥

अन्वयः— अर्थ—

समाधेः =समाधि से

पूर्वम् =पूर्व

इति +	=(ऐसा)
विचिन्तयेत्	=चिन्तन करे
इदम् +	=(यह)
सचराचरम्	=सम्पूर्ण चराचर
जगत्	=जगत्
ओंकारमात्रम्	=ओंकार मात्र है।
हि	=निस्सन्देह
तत्	=वह संसार
एव	=ही
वाच्यम्	=वाच्य है
च +	=(और)
प्रणवः	=ओंकार
वाचकः	=वाचक है
अज्ञान वशात्	=अज्ञान के कारण
विभाव्यते	=प्रतीत होता है,
न बोधतः	=ज्ञान होने पर नहीं।

भावार्थ—पूर्व भगवान राम ने चौबीस श्लोक से लेकर सत्ताइसवें श्लोक तक उत्तम अधिकारी के लिये महावाक्य के विचार का तथा अट्ठाइस लोक से तीसवें तक आत्मा और उसकी उपाधियों को बतलाते हुए एकतीस से पैंतीसवें तक उन उपाधियों का बाधपूर्वक आत्म स्वरूप का एवं छत्तीस से बयालीसवें तक अध्यास और उसके खण्डन का तथा पैंतालिस से छीआलीसवें

श्लोक तक आत्म-चिन्तन का वर्णन किया। पुनः सतालीसवें श्लोक में मध्यम अधिकारी के लिए लय-चिन्तन बतला कर अब अरतालिस श्लोक से चौवानवें तक माण्डूक्य-श्रुति के अनुसार ओंकार की उपासना के द्वारा अपने परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति बतलाते हैं।—जब आत्मदेव के साक्षात्कार होने पर उस चेतन में चित-वृत्ति की प्रगाढ़ स्थितिरूप समाधि होने लगती है, तब किसी प्रकार के चिन्तन की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः समाधि प्राप्ति से पहले ऐसा चिन्तन करे कि—यह समस्त चराचर केवल ओंकारमात्र है। जैसे माण्डूक्य श्रुति से कहा है—ओमित्येतदक्षर मिदंसर्वं। अर्थात् यह सब जगत 'ओम्' ऐसा अक्षरमात्र है। यह ओंकारवाचक है और संसार वाच्य है तथा इस ओंकार स्वरूप के अज्ञान से ही इस संसार की प्रतीति होती है, उसका ज्ञान होने पर यह तो रह ही नहीं सकता ॥ ४८ ॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्यु कारकस्तैजसईर्यते क्रमात् ।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत् ॥ ४८ ॥

पदच्छेदः—अकारसंज्ञः, पुरुषः, हि, विश्वकः, हि, उकारकः, तैजसः, ईर्यते, क्रमात्। प्राज्ञः, मकारः, परिपठ्यते, अखिलैः, समाधिपूर्वम्, न, तु, तत्त्वतः, भवेत्, ॥ ४९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
क्रमात्	=क्रमसे
विश्वक	=विश्व
पुरुषः	=पुरुष
अकारसंज्ञः	=अकार संज्ञावाला
हि	=और
तैजसः	=तैजस
उकारकः	=उकार
ईर्यते	=कहलाता है
हि	=और
प्राज्ञाः	=प्राज्ञ
मकारः	=मकार
परिपठ्यते	=कहा जाता है.
एतत्	=(यह)
अखिलैः	=सब क्रम
समाधिपूर्वम्	=समाधि से पहले का है
तत्त्वतः	=तत्त्व दृष्टि से
न तु	=नहीं
भवेत्	=हो सकता।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में माण्डुक्य श्रुति के अनुसार सिद्ध किया गया था कि यह जगत केवल ओंकारमात्र है। वह ही इस श्रुति में यह भी कहा है सर्वंह्येतत् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। अर्थात्

यह सब जगत ब्रह्म है और यह आत्मा भी ब्रह्म है। इससे यह सिद्ध होता है कि ओंकार, ब्रह्म और आत्मा, से सब एक ही पदार्थ हैं। अतः ये परस्पर पर्याय शब्द है; ऐसा नहीं मानने से एक ही श्रुति के कथन में भारी विरोध पड़ेगा। अब यह शंका होती है कि इस संसार रूप ओंकार से ब्रह्म तथा आत्मा की एकता कैसे है? इस का समाधान तीन श्लोकों में करते हैं—ओंकार में अ, उ, और म, ये तीन वर्ण हैं; तथा आत्मा भी जागृतादि भेद से तीन संज्ञा वाला है, जैसे—जागृत के अभिमानी होने से विश्व, स्वप्न के अभिमानाय से तैजस और सुषुप्ति अवस्था के अभिमान करने से प्राज्ञ यह विश्वरूप आत्मा जागृत अवस्था में पृथ्वी चरण, समुद्र मूत्राशय, आकाश धड़, वायु प्राण, दिशाएं श्रोत्र, सूर्य नेत्र और स्वर्ग शिर;* इन सात अङ्गों से युक्त हुआ तथा वहिर्मुख वृत्ति वाला होकर पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और चार अन्तःकरण (मन, बुद्धि; चित, अहंकार) इन उन्नीस मुखों से बाहर के स्थूल भोगों को भोगता है स्वप्न अवस्था का अभिमानी तैजसरूप आत्मा पूर्वोक्त सात अङ्गों से युक्त हुआ अन्तर्मुख वृत्ति होकर पूर्वोक्त उन्नीस मुखों से स्वप्न के सूक्ष्म भोगों को भोगता है। सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञरूप आत्मा न तो बाहर वृत्ति वाला, न अन्तर-वृत्ति वाला; न एक साथ (बाहरी-आन्तरिक) दोनों वृत्ति वाला; न सात अङ्ग वाला, न उन्नीस मुख वाला, न सूक्ष्म भोग वाला और न स्थूल भोग वाला होता है; बल्कि

* यद्यपि ये सात अङ्ग विराट के हैं, तथापि विश्व की विराट से एकता है; इसलिए ये विश्व के कहे गये।

चेतन स्वरूप एवं चेतन ही मुख वाला होकर आनन्द का भोक्ता है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, अन्तःकरणादि अपने कारण अविद्या में लय होकर उसका स्वरूप ही हो जाते हैं। जैसे—रात्रि में अनेक जाति के वृक्षों वाला बगीचा एक अन्धकार में ऐसा लय हो जाता है कि किसी भी वृक्ष का ज्ञान नहीं रहता; किन्तु केवल अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है। वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में अविद्या समस्त पदार्थों को अपने में लय करके केवल आप ही रह जाती है, तब चेतन स्वरूप आत्मा उस अविद्या का अनुभव करता हुआ अपने आनन्द स्वरूप को भी जानता है।

पूर्वोक्त आत्मा का पहला पाद जो विश्व है, वह ओंकार के पहले अक्षर का स्वरूप है, और दूसरा विश्व उकार स्वरूप एवं प्राज्ञ मकार स्वरूप है। मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार का चिन्तन समाधि से पहले करे, क्योंकि यह व्यवस्था समाधि के पहले की ही है; उस समाधि के प्राप्त हो जाने पर तो आत्मा में विश्व, तैज, प्राज्ञ अथवा अकार, उकार, मकारादि भेद रह ही नहीं जाते। उस समय तो एक ही अद्वितीय आत्मसत्ता अपने आप में स्थित रहती है। सम्पूर्ण भेद अज्ञान अवस्था में मुमुक्षु ज्ञान प्राप्ति निमित्त कहे जाते हैं॥ ४९॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये वहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ५०॥

पदच्छेद:—विश्वम्, तु, अकारम्, पुरुषम् विलापयेत्, उकारमध्ये, वहुधा, व्यवस्थितम् । ततः, मकारे, प्रविलाप्य, तैजसम्, द्वितीय वर्णम्, प्रणवस्य, च, अन्तिमे ॥ ५० ॥

अन्वय:—	**अर्थ**—
तु	=फिर
बहुधा	=नाना प्रकार से
व्यवस्थितम्	=स्थित
अकारम्	=अकार रूप
विश्वम् पुरुषम्	=विश्व पुरुष को
द्वितीय वर्णे	=दूसरे वर्ण
उकारमध्ये	=उकार में
विलापयेत्	=लीन करे
च	=और
ततः	=फिर
द्वितीय वर्णम्	=दूसरे वर्ण
तैजसम्	=तैजस रूप
उकारम्	=(उकार को)
तस्य	=(उसके प्रणव के)
अन्तिमे	=अन्तिम वर्ण
मकारे	=मकार में
विलापयेत्	=लीन करे।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा हुआ जो सात अङ्ग तथा उन्नीस मुखों वाला होने से वह नाना अवयव एवं रूप वाला

ऐसा जो ओंकार का पहला पद अकाररूप विश्वपुरुष है, उसको ओंकार के दूसरे वर्ण उकार रूप तैजस में लय करे अर्थात् ऐसा चिन्तन करे कि वह विश्वपुरुष ही स्वप्न अवस्था के अभिमानी होने से तैजस कहलाता है, इसलिए विश्व तैजस स्वरूप ही है। फिर ओंकार के दूसरे वर्ण रूप तैजस को उसके तीसरे वर्ण मकाररूप प्राज्ञ में लीन करे अर्थात् ऐसा चिन्तन करे कि वह तैजस ही सुषुप्ति के अभिमानी होने से प्राज्ञ संज्ञा वाला होता है, अतएव तेजस प्राज्ञ स्वरूप ही है ॥ ५० ॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ् मुक्त उपाधितोऽमलः ॥ ५१ ॥

पदच्छेदः—मकारम्, अपि आत्मनि, चिद्घने, परे, विलापयेत्, प्राज्ञम, अपि, इह, कारणम्। सः, अहम्, परम्, ब्रह्म, सदा, विमुक्तिमत्, विज्ञानदृङ्, मुक्तः, उपाधितः, अमलः, ॥ ५१ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
पुनः -।-	=(फिर)
इह	=इस
कारणम्	=कारणात्मा
प्राज्ञम्	=प्राज्ञरूप
मकारम्	=मकार को

अपि	=भी
चिद्घने	=चिद्घन
परे आत्मनि	=परमात्मा में
विलापयेत्	=लय करे;
च +	=(और)
इति +	=(ऐसी)
भावना +	=(भावना)
कुर्यात् +	=(करे, कि)
सः	=वह
सदा	=नित्य
विमुक्तिम्	=मुक्त
विज्ञानदृङ्	=विज्ञान स्वरूप
उपाधितः	=उपाधि से
मुक्तः	=रहित
अमलः	=निर्मल
परम् ब्रह्म	=परब्रह्म
अहम्	=मैं
अस्मि +	=(हूं)

भावार्थ—सूक्ष्मसृष्टि स्वप्न तथा स्थूल सृष्टि जागृत अवस्था की कारण अविद्या सुषुप्ति में सम्पूर्ण सूक्ष्म-स्थूल कार्य को अपने में लीन करके आत्मा के आश्रय रहती है, फिर जीव के कर्म-फल भोग के लिए उस आत्मा की सत्ता से अपने कार्यरूप सूक्ष्मस्थूल सृष्टि को फैला देती है। क्योंकि आत्मा की सत्ता के

विना जड़ होने के कारण अविद्या स्वयं सृष्टि तथा लय नहीं कर सकती, अतएव उस अविद्या के सहित आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं। इस रीति से जागृत तथा स्वप्नरूप प्रपञ्च का कारण जो प्राज्ञरूप मकार है, उसे चिद्घनरूप परमात्मा में लीन करे अर्थात् ऐसा चिन्तन करे कि जिस अविद्या के कल्पित सम्बन्ध से आत्मा प्राज्ञ रूप को प्राप्त हुआ है, वह अविद्या प्रतीतिमात्र मिथ्या है, क्योंकि श्रुति एक अद्वितीय आत्मा को ही सिद्ध करती है। इस प्रकार से जब अविद्या मिथ्या ही है, तो वह प्राज्ञ चिन्तन रूप परमात्मा से भिन्न नहीं है; बल्कि उसका स्वरूप ही है। जैसे—मैदान में रखे हुए जल सहित घड़ा के फूट जाने पर उसमें का सूर्य प्रतिबिम्ब, व्यापक किरणों (प्रकाश) वाला सूर्य स्वरूप ही हो जाता है। वैसे ही अविद्या को मिथ्या समझ लेने पर प्राज्ञ रूप जीवात्मा परमात्म स्वरूप ही हो जाता है। फिर ऐसी भावना करे कि—प्राज्ञ रूप मकार के लय करने से जो नित्यमुक्त विज्ञान स्वरूप उपाधि रहित निर्मल परब्रह्म बचा है, वह मैं हूँ ॥ ५१ ॥

परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि।
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
शिवः केवलोऽहम् शिवः केवलोऽहम्॥
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्दघन।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्दघन॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।

आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥ ५२ ॥

पदच्छेदः—एवम्, सदा, जातपरात्मभावनः, स्वानन्दतुष्टः, परिविस्मृतः, अखिलः। आस्ते, सः नित्यः, आत्मसुखप्रकाशकः, साक्षात्, विमुक्तः, अचलवारिसिन्धुवत्, ॥ ५२ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यः	=(जो)
एवम्	=इस प्रकार
सदा	=निरन्तर
जातपरात्मभावनः	=परमात्मभावना से उत्पन्न हुए
स्वानन्दतुष्टः	=आत्मानन्द में सन्तुष्ट हो गया है
तथा +	=(तथा)
येषाम् +	=(जिसे)
अखिलः	=सम्पूर्ण
प्रपञ्चः +	=(प्रपञ्च)
परिविस्मृताः	=विस्मृत हो गया है,
सः	=वह
नित्यः	=नित्य
आत्मसुखप्रकाशकः	=आत्म-सुखका अनुभव करनेवाला
अचलवारिसिन्धुवत्	=निस्तरंग सिन्धु के समान
साक्षात्	=साक्षात्
विमुक्तः	=मुक्त स्वरूप होकर
आस्ते	=स्थित होता है।

भावार्थ—पूर्व श्लोक के कथनानुसार परमात्मा का अभेद भाव से निरन्तर चिन्तन करते-करते जब आत्मानन्द का समुद्र उमड़ पड़ता है, तो चहुँओर आनन्द-ही-आनन्द प्रतीत होने लगता है और उस आनन्द सागर में निमग्न हुआ पुरुष अपने शरीर सहित सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को भूल जाता है। वह नित्य आत्मानन्द का अनुभव करने वाला जीवनमुक्त निस्तरंग समुद्र के समान अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हुआ साक्षात् मुक्त स्वरूप होकर स्थित होता है॥ ५२॥

एवं सदाऽभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्त सर्वेन्द्रिय गोचरस्य हि।
विनिर्जिता शेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५३॥

पदच्छेदः—एवम्, सदा, अभ्यस्तसमाधियोगिनः, निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य, हि। विनिर्जिताः शेषरिपो, अहम्, सदा, दृश्यः, भवेयम्, जितषड्गुणात्मनः॥ ५३॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
एवम्	=इस प्रकार
सदा	=निरन्तर
अभ्यस्तसमाधियोगिनः	=जो समाधि योग के अभ्यास करने वाले हैं;
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य	=जिनके सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय निवृत्त हैं

च +	=(और)
विनिर्जिताशेषरिपोः	=जिन्होंने सम्पूर्ण शत्रुओं (काम क्रोधादि) को जीत लिया है
तेषाम् +	=(उन)
जितषड्गुणात्मनः	=छः इन्द्रियों (मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां) को जीतने वालों के लिए
हि	=निस्सन्देह
अहम्	=मैं
सदा	=निरन्तर
दृश्यः	=साक्षात्कार
भवेयम्	=होता हूँ।

भावार्थ—ज्ञान की सात भूमिकायें होती हैं, उनमें से एक की प्राप्ति हो जाने पर पुरुष की दुर्गति नहीं होती, बल्कि आगे की और भूमिकाओं में पहुँच कर मुक्त हो जाता है। यदि पूर्वार्जित संस्कार की प्रवलता रहती है, तब तो इसी जन्म में, नहीं तो आगे के जन्मों में पूर्व अभ्यास के वशीभूत हुआ खिंच जाता है। जैसे श्री कृष्णजी ने अपनी गीता में कहा है—"पूर्वाभ्यासेन कौन्तेय ह्रियते ह्यवशोपि सः।" "अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।" अर्थात् हे अर्जुन! वह मुमुक्षु पुरुष पूर्वाभ्यास के बल से परवश हुआ दूसरे जन्म में भी आगे की भूमिकाओं की ओर बलात्कार खिंच जाता है। ऐसे ही हर एक जन्म में आगे की ओर बढ़ते-बढ़ते अनेक जन्मों में ज्ञान-सिद्धि को पा कर परम गति

(परब्रह्म स्वरूप आत्मा) को प्राप्त हो जाता है और उस आनन्द को पाकर फिर उससे अधिक कोई लाभ नहीं मानता, जैसे श्री मद्भगवद्गीता में कहा है—यंलब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

इस रामगीता के सातवें श्लोक के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन निष्काम एवं ईश्वरार्पण पूर्वक करने से हृदय शुद्ध होकर मोक्ष की उत्कट इच्छा से सम्पूर्ण कर्मों का विधिवत् त्याग करके सद् गुरु के शरण में जाता है, तो पूर्वोक्त ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पहली भूमिका समाप्त हो जाती है । फिर चौबीस से सत्ताइसवें तक गुरुमुख से महावाक्य अथवा अट्ठाइस से बयालीसवें तक आत्मा की उपाधियों तथा अध्यास का बाध या तैंतालीस से सैंतालीसवें तक आत्म-चिन्तन एवं अड़तालीस से एकावनवें श्लोक तक ओंकारोपासना का श्रवण करके मनन (निश्चय) कर चुकने पर दूसरी भूमिका पूरी हो जाती है । उसके बाद उस मनन किये हुये आत्म तत्त्व के अभ्यास में तत्पर होने पर तीसरी और उसका साक्षात्कार कर लेने पर चौथी भूमिका समाप्त हो जाती है । संसार के जन्म-मरण रूपी बन्धन से छूट कर मुक्ति पा जाने के लिये यही भूमिका पर्याप्त है । इस भूमिका में पहुँचा हुआ जीवन मुक्त पुरुष प्रारब्ध भोग को समाप्त करता हुआ अपने स्वरूप में स्थित रहता है, उसके लिये मोक्ष निमित्त कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता । उस चौथी भूमिका के बाद पांचवीं और छठीं ये दोनों भूमिकायें जीवन मुक्ति के सुख निमित्त हैं और सातवीं में जा कर तो पुरुष का शरीर एक-आध महीने से अधिक नहीं रहता, किन्तु छूट जाता है । फिर वह पुरुष विदेह मुक्त हुआ शरीर धारण नहीं करता । इसका वर्णन

श्रुति में भी किया है, जैसे-विमुक्तश्च विमुच्यते। अर्थात् जो माया के बन्धन से मुक्त हुआ जीवन मुक्त पुरुष है, वह भी शरीर छोड़ कर फिर विदेह मुक्त होता है। यह सब वार्ता अज्ञानियों की दृष्टि से कही गयी है, उस ज्ञानी की दृष्टि से नहीं। क्योंकि ज्ञान हो जाने पर माया तथा माया जनित प्रारब्ध भोग का अत्यन्त अभाव हो जाता है, जैसे श्रीमच्छंकराचार्य नें कहा है-देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितः कुतः। अज्ञानिजन वोधार्थं प्रारब्धंवक्ति वैश्रुति ॥ अर्थात् (ज्ञान होने पर प्रपञ्च का वाध हो जाता है, अतः) देह के भी प्रपञ्च होने पर उसके प्रारब्ध की स्थिति कैसे रह सकती? प्रारब्ध का कथन तो श्रुति ने अज्ञानियों के वोध निमित्त किया है।

पूर्वोक्त ज्ञान की सात भूमिकाओं के क्रमशः ये नाम हैं-शुभेच्छा, सुविचार, तनु मानसा, असत्वापत्ति, पदार्थीभावनी, और तुरिया। चौथी भूमिका के प्राप्त हो जाने के बाद भी जब पुरुष पांचवीं भूमिका में पहुँचता है, तब प्रारब्ध जनित अन्तःकरण की वासनाओं का भी दृढ़ वैराग्य के द्वारा क्षय करके मनोनाश कर देता है अर्थात् इधर तो दृढ़ वैराग्य के कारण मन अनात्म पदार्थों का चिन्तन नहीं करता और उधर मन-वाणी से परे आत्मा को ग्रहण नहीं कर सकता, अतः बीच ही में नष्ट हो जाता है यानी मनोवृत्ति शान्त (लय) हो जाती है, तब आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा निश्चल रूप से प्रकाशता है, इसी आत्मानन्द के प्रकाश को तत्त्व ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जब वासना क्षय मनोनाश एवम् तत्त्व ज्ञान होता है, तब वह पुरुष छठीं भूमिका में पहुँच कर आनन्द-सागर में डूब जाता है अर्थात् आनन्द के सिवा दूसरा कुछ नहीं भासता।

इसी अवस्था का वर्णन पूर्व के बावनवें श्लोक में करके पुनः इस तिरानवें श्लोक में इसी की पुष्टि की जाती है। जो पूर्व श्लोक के कथनानुसार निरन्तर समाधि योग का अभ्यास करते हैं, जिनके सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय निवृत्त होगये हैं तथा जिन्होंने काम, क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लिया है, उन छहों (मन और पांच ज्ञान इन्द्रियां) को जीतने वाले महात्माओं को मुझे निर्गुण परमात्मा का आत्म रूप से निरन्तर साक्षात्कार होता है।

यद्यपि गुणातीत जीवन मुक्त पुरुष व्यवहार में रहता हुआ भी मुक्त ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण गुणमय व्यवहारों को अपने आत्मस्वरूप में कल्पित जानता है। अतएव सतोगुण के कार्य इन्द्रिय प्रकाशादि, रजो गुण के कार्य कर्मों में प्रवृत्ति इत्यादि और तमोगुण के कार्य मोहादि, न तो इनकी निवृत्ति में इच्छा करता और न प्रवृत्ति में द्वेष, जैसे श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है—प्रकाशंच प्रवृत्तिं च मोह मेव च पांडव। न द्वेषि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ तथापि व्यावहारिक कार्यों में मन इन्द्रियों के वश में न होने से तथा शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होने से हृदय में काम, क्रोध, राग द्वेषादि का संचार होता रहता है. उसमें जीवन मुक्ति का सुख नहीं मिलता, अतः मन और इन्द्रियों को रोक कर काम, क्रोधादि शत्रुओं को अपने वश में करता हुआ निरन्तर समाधि योग के अभ्यास में तत्पर रहे॥ ५३॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५४॥

पदच्छेदः—ध्यात्वा, एवम्, आत्मानम्, अहर्निशम्, मुनिः, तिष्ठेत्, सदा, मुक्तसमस्तबन्धनः। प्रारब्धम्, अश्नन्, अभिमानवर्जितः, मया, एव, साक्षात्, प्रविलीयते, ततः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम्	=इस प्रकार
अहर्निशम्	=रातदिन
आत्मानम्	=आत्मा का
एव	=ही
ध्यात्वा	=चिन्तन करके
मुनिः	=मुनि
सदा	=सदा
मुक्तसमस्तबन्धनः	=सकल बन्धनों से रहित होकर
तथा +	=(तथा)
अभिमानवर्जितः	=अभिमान को छोड़ कर
प्रारब्धम्	=प्रारब्ध को
अश्नन्	=भोगता हुआ
तिष्ठेत्	=रहे।
ततः	=शरीर छूटने के बाद
सः +	=(वह)
मयि एव	=मुझमें ही
साक्षात्	=साक्षात्
प्रविलीयते	=मिल जाता है।

भावार्थ—पूर्व के श्लोकों में जीवनमुक्ति का वर्णन कर के अब इस श्लोक में विदेहमुक्ति का वर्णन करते हैं—पूर्व श्लोक के अनुसार रात दिन आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे। श्री कृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में मुनि का लक्षण इस प्रकार कहा है—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। अर्थात्—जिसका मन दुःख में उद्विग्न नहीं है तथा जिसकी सुख में आकांक्षा नहीं है; जो काम, क्रोधादि से रहित एवं स्थिरबुद्धि वाला है, उसे मुनि कहते हैं। आत्म-चिन्तन करने वाला मुनि सम्पूर्ण बन्धनों से छूट जाता है, जैसे श्रुतिः—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ अर्थात् उस परावर (परमात्मा) को देख (साक्षात्कारकर) लेने में इस पुरुष के जो हृदय की ग्रन्थि है, (जड़-चेतन का तादात्म्य सम्बन्ध) वह छूट जाती है। वेदान्त शास्त्र जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक है अथवा भिन्नता का ? मैं ब्रह्म हूँ या नहीं ? यह संसार ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न ? ज्ञान और कर्म इन दोनों से मोक्ष होता है या केवल ज्ञान से ? इत्यादि सम्पूर्ण संशयों का अभाव हो जाता है तथा सकल संचित कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर भगवान राम कहते हैं कि— कर्ता-भोक्तापन के अभिमान को छोड़ कर प्रारब्ध-फल को भोगता रहे, इससे वह शरीर छोड़ कर मुझमें साक्षात् लीन हो जाता है। आत्म-चिन्तन करने वाला

ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप को निष्क्रिय समझता है, अतः देह, इन्द्रियों के कर्मों को अपना नहीं मानता। इसलिये नित्य प्रति के क्रियमाण कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता, जैसे श्री कृष्ण जी ने कहा है—यस्य नाहं कृतो भावे बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ अर्थात् जिस पुरुष का 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि पाप-पुण्य से लिपायमान नहीं होती, (अर्थात् मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, ऐसी भावना नहीं होती) वह (किस लिये मारेगा, परन्तु अदृष्टादि की प्रबलता से अज्ञानियों की दृष्टि से) इन सम्पूर्ण लोकों को मार करके भी न तो मारता है और न उस हिंसाजन्य पाप को प्राप्त होता है। और भी कहा है—सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोभिजायते। अर्थात् वह ज्ञानी पुरुष सब प्रकार से व्यवहार में वर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता यानी मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस वर्तमान शरीर से भोगने के लिये प्रारब्ध भोग का प्रारम्भ हो चुका है, वह तो छूटे हुये बाण के समान अपने वश के बाहर है। अतएव उसकी अवहेलना न करता हुआ उसे अन्तःकरण का भोग समझ कर व्यतीत करे। इस संसार में इस प्रकार से विचरने वाला जीवन मुक्त पुरुष जीते-जी-तो परमात्मा से अभेद प्राप्त किया ही है, वरन् शरीर छूटने पर भी साक्षात् उसमें लीन हो जाता है; वह स्वर्ग, बैकुण्ठ, साकेत कैलाश, गोलोकादि में नहीं जाता, क्योंकि उसकी दृष्टि में ये सब माया मय मिथ्या हैं। जहां उपनिषदों में इन लोकों से लौटना नहीं लिखा है वहां इनका ब्रह्म में ही अन्तर भाव है। वेदान्त शास्त्र दृष्टि सृष्टिवाद

मानता है। अर्थात् जिसकी जैसी दृष्टि (भावना) है, उसके लिये वैसी ही सृष्टि है। ज्ञानी की दृष्टि में एक ब्रह्म तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता, वह जीवन पर्यन्त उस ब्रह्मात्मा का ही चिन्तन करता हुआ उसी में स्थित रहता है, अतएव वह शरीर छोड़कर उस ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। भगवान श्री कृष्ण जी ने भी कहा है—यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ अर्थात् हे कौन्तेय! पुरुष जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह सर्वदा उसी भाव में भावित (तन्मय) हुआ उसीको प्राप्त होता है ॥५४॥

आत्म-चिन्तन की आवश्यकता।

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥५५॥

पदच्छेदः—आदौ, च, मध्ये, च, तथा, एव, च, अन्ततः, भवम्, विदित्वा, भयशोककारणम्। हित्वा, समस्तम्, विधिवाद-चोदितम्, भजेत्, स्वम्, आत्मानम्, अथ, अखिलात्मनाम् ॥५५॥

अन्वयः—	अर्थ—
भवम्	=संसार को
आदौ	=आदि
च	=और
मध्ये	=मध्य
तथा	=तथा
अन्ततः	=अन्त में
एव	=भी
भय शोक कारणम्	=भय और शोक का कारण
विदित्वा	=जान करके
समस्तम्	=सम्पूर्ण
विधिवाद चोदितम्	=वेद विदित कर्मों को
हित्वा	=त्याग कर
अथ	=पुनः
अखिलात्मनाम्	=सबके अन्तरात्मा रूप
स्वम्	=अपने
आत्मानम्	=आत्मा को
भजेत्	=भजन करे।

भावार्थ—यह संसार आदि, (बाल्यावस्था) मध्य, (युवावस्था) और अन्त (वृद्धावस्था) में भी भय तथा शोक का ही कारण है, जैसे—बाल्यावस्था में बालक विशेष अज्ञानता के कारण अपने हृदय का भाव पूरा किसी से कुछ कह नहीं सकता,

बल्कि मन-ही-मन कुछ शोक करता है तथा अपने से अधिक भोजन वस्त्रादि से सम्पन्न दूसरे लड़कों को देख कर मन-ही-मन कुढ़ा करता है एवं अपने से बड़े माता-पिता आचार्य और लड़कों से सर्वदा भयभीत रहा करता है, फिर नित्य प्रति नयी-नयी कामनाओं की कल्पना करता हुआ भी उन्हें पूरी नहीं कर पाता, इससे भी शोक-ग्रसित रहता है, अतएव बाल्यावस्था भय और शोक का कारण है।

युवावस्था में मनुष्य अपने तरुणाई के मद से प्राणियों का अत्यन्त तिरस्कार करता है, उससे संसार में उसके वहुत शत्रु हो जाते हैं, वे भय और शोक के ही हेतु होते हैं तथा इस अवस्था में पुरुष कामवश स्त्री में आशक्त होकर अपने माता पिता आदि गुरुजनों का अनादर करता है एवं धन के लिए चोरी, हिंसादि कुकर्म करता है, उससे सभ्य पुरुषों की सभा में घृणित दृष्टि से देखा जाता है और राजा के कर्मचारी पकड़ कर राजदण्ड देते हैं तथा शरीर छूटने के वाद भी वह रवरवादि नर्क में जाकर अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता है, इत्यादि। अतः युवावस्था शोक तथा भय का ही हेतु है।

वृद्धावस्था में तो शरीर, तथा इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकता, अतएव उसे पुरुषार्थ हीन देख कर कुटुम्बी कुत्ता से भी अधिक अपमान करते हैं, न तो समय पर पानी देते, न अन्न। उसकी बातों पर हँसते तथा नाना प्रकार के कठोर बचन बोलते हैं, उस से उसका हृदय जला करता है। वह डांटने-फटकारने के भय से उनसे अपने हृदय की अभिलाषायें

प्रकट नहीं कर सकता और पूरा चल फिर न सकने के कारण दुःखित रहा करता है एवं उसे कमजोर जान कर अनेक प्रकार के रोग भी आकर ग्रसित कर लेते हैं। कोई-कोई तो बृद्धावस्था में असह्य दुःखों से व्याकुल हो कर आत्म-घात भी कर बैठते हैं; अतएव वृद्धावस्था भी भय और शोक का ही कारण है।

ये तीनों अवस्थाएं संसार में जन्म लेने से ही प्राप्त होती हैं और कर्म-फल को भोगने के लिये जन्म होता है तथा अज्ञान से कर्म होते हैं। इसलिये सम्पूर्ण वेद विहित कर्मों का परित्याग करके उस अज्ञान के विनाश निमित्त जो सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तरात्मा रूप अपना आत्मा है, उसका भजन (चिन्तन) करे ॥ ५५ ॥

आत्मन्यभेदेन विभायन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५६ ॥

पदच्छेदः—आत्मनि, अभेदन, विभावयत्, इदम्, भवति अभेदेन, मया, आत्मना, तदा। यथा, जलम्, वारिनिधौ, यथा, पयः, क्षीरे, वियत्, व्योम्नि, अनिले, यथा, अनिलः ॥ ५६ ॥

अन्वयः-- अर्थः—

यथा =जैसे
वारिनिधौ =समुद्र में
जलम् =जल,

क्षीरे	=दूध में
पयः	=दूध,
व्योम्नि	=आकाश में
वियत	=आकाश
च +	=(और)
यथा	=जैसे
अनिले	=वायु में
अनिलः	=वायु
अभेदेन +	=(अभेद भाव से)
भवति +	=(स्थित होता है ।
तथा एव +	=(वैसे ही)
यदा पुरुषः +	=(जब पुरुष)
इदम्	=इस जगत को
आत्मनि	=अपने (आत्मा) में
अभेदेन	=अभेदभाव से
विभावयत्	=चिन्तन करता है,
तदा	=तब
सः +	=(वह)
मया	=मेरे
आत्मना	=आत्मा से
अभेदेन	=अभेद होकर
भवति	=स्थित होता है ।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—हे लक्ष्मण! जिस प्रकार समुद्र में जल, दूध में दूध, महाकाश में घटाकाश और वायु में वायु मिल कर एक हो जाते हैं, अर्थात् न तो उस जल का समुद्र से भेद रह जाता, और न दूध से दूध का; वैसे ही न घटाकाश महाकाश से भिन्न रह जाता और न वायु में मिली हुई वायु उससे भिन्न रह जाती। उसी प्रकार जो पुरुष इस सम्पूर्ण प्रपञ्च-दृश्य को अपने आत्मा के साथ अभेद भाव से चिन्तन करता है अर्थात् वह यह जानता है कि—'आत्मैवेदं सर्व' इस श्रुति के अनुसार यह सब जगत आत्मरूप ही है, तब वह मुझ परमात्मा से अभिन्न हो जाता है; जैसे श्री कृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है–यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति॥ अर्थात् जो मुझको सर्वत्र देखता है और सब जगत को मुझमें (मुझसे अभेद) देखता है, उसके लिए न तो मैं परोक्ष (पृथक्) हूँ और न मेरे लिए वह परोक्ष (भिन्न) है॥ ५६॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥

पदच्छेदः—इत्थम्, यत्, ईक्षेत, हि, लोकसंस्थितः, जगत्, मृषा, एव, इति, विभावयन्, मुनिः। निराकृतत्वात्, श्रुति

युक्तिमानतः, यथा, इन्दुभेदः दिशि, दिग्भ्रमादयः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
इदम् -।-	=(यह)
यत्	=जो
जगत्	=जगत है,
तत् -।-	=(वह)
श्रुतियुक्तिमानतः	=श्रुति, युक्ति और प्रमाण से
वाधतः	=वाध (मिथ्या कर देने पर
यथा	=जैसे
इन्दुभेदः	=चन्द्रभेद
च -।-	=(और)
दिशि	=दिशाओं में
दिग्भ्रमादयः	=दिग्भ्रमादि हो जाते हैं,
तथा एव -।-	=(वैसे ही)
मिथ्या एव	=मिथ्या ही हो जाता है।
हि	=निस्सन्देह
इति	=ऐसी
विभावयन्	=भावना करता हुआ
लोकसंस्थितः	=लोक में स्थित
मुनिः	=मुनि
इत्थम्	=इसको
ईक्षेत	=देखे।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र के किसी कोने में अंगुली दबाने से चन्द्रमा दो दिखलाई देता है और दिशाओं का भ्रम हो जाने पर पूरब का पश्चिम, पश्चिम का पूरब, उत्तर का दक्षिण और दक्षिण का उत्तर इत्यादि उलटाही दिखलायी देता है। परन्तु देखने वाले को यह निश्चय रहता है कि यह सब मैं भ्रमसे देख रहा हूँ, वास्तव में चन्द्रमा एकही है, तथा सूर्योदय की ओर पूरब और अस्त की ओर पश्चिम एवं ध्रुवतारे की ओर उत्तर है, इत्यादि। उसी प्रकार यह जो नानात्व जगत् है, वह ब्रह्म में भ्रम से प्रतीत हो रहा है; मननशील पुरुष को चाहिये कि श्रुति, युक्ति और प्रमाण से इसका बाध (खण्डन) करके लोक (व्यवहार) में रहता हुआ भी इसे मिथ्या देखे। जगत के मिथ्यात्व में श्रुति प्रमाण ये हैं—मायामात्रमिदं द्वैतं, नेह नानास्तिकिञ्चन, नेति-नेति, इत्यादि। अर्थात् यह द्वैत (जगत) मायामात्र (मिथ्या) है, यह नानात्व (जगत) कुछ नहीं है, यह नहीं है; नहीं है, इत्यादि। पुनः युक्तियां ये हैं—आद्यावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा। अर्थात् जो पदार्थ आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्त्तमान (मध्य) में भी वैसाही (अभावरूप) हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध हुआ कि यह जगत न तो सृष्टि के पहले था और न अन्त (प्रलय) में रह जायगा, इसलिये वर्त्तमान में भी नहीं है। जैसे स्वप्न अवस्था में क्षणमात्र में ही केश से भी सूक्ष्म कण्ठगत नाड़ी में अविद्या एक नयी सृष्टि (ब्रह्माण्ड) रच देती है। उस समय वह सृष्टि अनादि काल की सत्य प्रतीत होती है, परन्तु नींद के टूट जाने पर उस पुरुष से यह नहीं कहना पड़ता कि स्वप्न-सृष्टि मिथ्या है, वरन वह स्वयं

कहता है कि अरे ! मैंने क्षणमात्र में ही मिथ्या देश, काल, वस्तु इत्यादि नाना सृष्टियों का अनुभव किया, अब तो नींद के टूट जाने पर उनका पता नहीं' आश्चर्य है कि उस समय वे सत्यरूप से प्रतीत होती थीं। वैसे ही देश, काल तथा वस्तु से रहित उस निरावच्छिन्न परमात्मा में माया (भ्रम) वश अनादि काल से जगत की प्रतीति होती चली आ रही है। जब तक किसी भी वस्तु की उत्पत्ति एवं स्थिति के लिये पर्याप्त काल तथा देश न हों, तबतक वह वस्तु हो ही नहीं सकती। और यदि प्रतीत होती है, तो मिथ्या है। इस रीति से यह जगत् प्रतीतिमात्र मिथ्या है।

अब प्रमाणों के द्वारा जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं— प्रमाण छः हैं, जैसे-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और उपलब्धि। जो प्रत्यक्ष नेत्र का विषय हो, उसे प्रत्यक्ष; प्रत्यक्ष विषय के द्वारा जो अनुमान किया जाय, वह अनुमान; किसी पदार्थ के सदृश पदार्थ को देख कर उसका ज्ञान किया जाय. वह उपमान जो शब्द के द्वारा जाना जाय, वह शब्द; जो देख कर या सुन कर जाना जाय, उसे अर्थापत्ति और जो अभाव के द्वारा जाना जाय, वह अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, क्योंकि नामरूप का मिथ्यापना नित्यप्रति देखी जाती है, जैसे—मनुष्य, पशु, वृक्ष, इत्यादि किसी पदार्थ का रूप जैसा उत्पत्ति-काल में रहता है, वैसा तरुणाई में नहीं रह जाता और तरुणाई का वृद्धावस्था में नहीं रहता तथा मृत्यु (नाश) हो जाने पर तो उसका बिल्कुल अभाव हो जाता है। वैसेही इनका नाम भी छोटे पर बालक, ओथी और बछड़ा,

इत्यादि और तरुण होने पर युवा, गांछी इत्यादि तथा वृद्ध (पुराने) होने पर बुड्ढा, पेड़, इत्यादि एवं मृत्यु (नष्ट) हो जाने पर तो कोई भी संज्ञा (नाम) नहीं रह जाती। पुनः जो पुरुष कौपोन मूंजी, मेखलादि पहने गुरुकुल में छात्रों के साथ आज ब्रह्मचारी कहलाता है; वही कल धोती, अंगूठी, इत्यादि धारण कर घर में स्त्री समेत गृहस्थ कहलाता है; फिर वही कल, नख बल्कल जटादि धारण किये हुए विपिन में वाणप्रस्थी हो जाता है; फिर वह पुरुष कषाय वस्त्र, दण्ड, कमण्डल आदि धारण किया हुआ सन्यासी नाम से पुकारा जाता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि नाम-रूप मिथ्या है; नाम-रूपके मिथ्या होने से जगत् मिथ्या है, क्योंकि नाम-रूप ही तो जगत् है। शास्त्र में कहा है अतिभातिप्रियंरूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ अर्थात् जगत के हरएक पदार्थ में अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम; ये पांच अंश हैं। इनमें से आदि के तीन अंश (अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय) ब्रह्मरूप और अन्त के दो (नाम रूप) जगत् रूप हैं। अस्ति, भाति, और प्रिय को ही क्रमशः सत्, चित्, और आनन्द कहते हैं।

यह जगत् अनुमान प्रमाण से भी मिथ्या है, जैसे—यत्र यत्र रूपत्वं तत्रतत्रानित्यत्वम्, यथा घटः। अर्थात् जहां जहां रूप है, वहां वहां अनित्यता है, जैसे रूपवान् घट का नाश अवश्य होता है। इससे अनुमान होता है कि जगत भी अनित्य है, क्योंकि रूप वाला है। पुनः—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। अर्थात् उत्पन्न हुए की

मृत्यु (नाश) निश्चय है। इस स्मृति से भी यही अनुमान होता है कि यह जगत मिथ्या है क्योंकि यह उत्पतिशील है, जैसे—श्रुति तत्सृष्ट्वा तदनुप्रविशेत्। अर्थात् वह परमात्मा इस जगत् को रच कर उसमें प्रवेश कर गया।

अब उपमान प्रमाण से जगत की मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—जगत में यह देखा जाता है कि नट (मदारी) के चित्र-विचित्रमय स्वांग केवल प्रतीतिमात्र होने से मिथ्या ही होते हैं; वैसे ही यह नाना स्वांगमय जगत मिथ्या ही है। इसकी विचित्रता देखिये! ग्रीष्मऋतु आ गयी; कड़ाके की धूप पड़ने लगी; अब तो वह असह्य होने लगी; जीव-जन्तु व्याकुल हो उठे; बस इतने ही में न मालूम कहां से काली-काली घटायें आगयीं? बिजली चमकने लगी तथा आकाश में गर्जना होने लगी; समस्त जीव-जन्तु देख रहे हैं कि ये जलद कब जल देंगे; कि लगे बून्द टपकने, कहना ही क्या है? ऐसो जोरों से वर्षा होने लगी कि नदी नाले भरने लगे, पथिक विश्राम लेने लगे, अब वसुन्धरा तृप्त हो गयी, तृण, लता, वृक्षादि हरियाले हो गये तथा उनमें फूल, फल आने लगे। फिर जगत अपना स्वांग बदलता है, अब वर्षा कम होने लगी; आकाश और नदी नालों का जल निर्मल होने लगा; पथिक चलने लगे, जाड़े की मौसिम धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी; और वर्षा बन्द हो गयी। बढ़ते-बढ़ते जाड़ा ऐसी बढ़ी कि अब शरीर कांपने लगा; भोजनअधिक होने लगा; रात बड़ी और दिन छोटे होने लगे; वस्त्रों की भरमार है, तभी अग्नि के समीप बैठना पड़ता है; प्राणी जाड़े

से व्याकुल हो रहे हैं। क्या जगत अब इसी स्वांग में रह जायगा ? नहीं, नहीं अब तो फाल्गुण का समय आया; किरणमाली भगवान सूर्य अपने किरणों को विशेष रूप से विकसित करने लगे; उष्णता फैलने लगी; धीरे-धीरे दिन भी बढ़ने लगे, रसालादि वृक्षों में बौरादि फूल तथा फल आने लगे, कोकिलादि पक्षियां अपनी २ मीठी बोलीं बोलने लगीं तथा भौंरे पुष्पों पर गुञ्जार करने लगे। अब भोजन भी कम होने लगा तथा विशेष वस्त्र की भी आवश्यकता नहीं रह गयी। धन्य है जगत, तूने एक वर्ष में ही कितने स्वांग बनाये; तू दिन में प्रकाश और रात में अन्धकार का स्वांग धारण करता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, तारे, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, पर्वत, वन नदी, इत्यादि ये तेरे अङ्ग हैं। इन अंगों के द्वारा तू सदा नृत्य किया करता है; परन्तु विचार करने पर तू शीघ्र ही अन्तर्धान (गुप्त) हो जाता है। अज्ञानी जन तुझे सत्य जान कर तुझमें आसक्त होते हैं, अतएव क्लेश में फंसते हैं और ज्ञानी तुझे मिथ्या जान कर तेरी उपेक्षा करते हैं. इसलिए वे सुखी रहते हैं।

शब्द प्रमाण तो श्रुति के वाक्य ही हैं, वे बार बार इस जगत का निराकरण (खण्डन) किया करते हैं, जैसे—नेति नेति नेह नानास्ति किञ्चन, इत्यादि। फिर अर्थापत्ति प्रमाण से भी यह मिथ्या है, क्योंकि गुरु के मुखारविन्द से 'यह जगत असत्, जड़ तथा दुःख रूप है' इस प्रकार श्रवण किया फिर विचार करके देखा तो यह जगत असत्, जड़ एवं मिथ्यारूप से प्रतीत हुआ। सुषुप्ति

तथा समाधि अवस्था में इसका अत्यन्ताभाव हो जाता है, अतः अनुपलब्धि प्रमाण से भी यह मिथ्या ही है। इस रीति से श्रुति, युक्ति एवं प्रमाण से भी जगत का बाध हो गया ॥ ५७ ॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत ।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥ ५८ ॥

पदच्छेदः—यावत्, न, पश्येत्, अखिलम्, मत्, आत्मकम्, तावत्, मत्, आराधने, तत्परः, भवेत्। श्रद्धालुः, अत्यूर्जितः, भक्तिलक्षणः, यः तस्यः, दृश्यः अहम्, अहर्निशम्, हृदि ॥ ५८ ॥

अन्वयः —	अर्थ —
यावत्	= जबतक
अखिलम्	= सम्पूर्ण विश्व को
मत् आत्मकम्	= मेरा स्वरुप
न पश्येत्	= न देखे
तावत्	= तबतक
मत्	= मेरी
आराधने	= आराधना में
तत्परः	= तत्पर
भवेत्	= रहे
यः	= जो

श्रद्धालुः	=श्रद्धालु
च	=(और)
अत्यूर्जितः	=उत्कट
भक्ति लक्षणः	=भक्ति लक्षण वाला (भक्त) है
तस्य	=उसके
हृदि	=हृदय में
अहम्	=मैं
अहर्निशम्	=रातदिन
दृश्यः	=दिखलायी देता हूं।

भावार्थ—जो महावाक्य के विचार करने एवं लय-चिन्तन करने में असमर्थ है, उस कनिष्ठ अधिकारी के लिये भगवान आत्म-प्राप्ति का सुगम साधन बतलाते हैं—जब तक यह सम्पूर्ण विश्व मुझ निर्गुण सच्चिदानन्द का स्वरूप न दिखलायी देने लगे, तबतक मेरे सगुण स्वरूप शिव, राम, कृष्णादि के ध्यान, पूजनादि में तत्पर रहे। जो श्रद्धालु मेरे सगुण स्वरूप की भक्ति करता है, उस उत्कट भक्त के हृदय में मेरे सगुण विग्रह का रातदिन साक्षात्कार होता है अर्थात् वह मुझे रातदिन हृदय में देखता है। मैं उसके हृदय में रह कर उसे बुद्धियोग (ब्रह्म विद्या) देता हूँ, उस बुद्धियोग (ज्ञान) से वह मुझ निर्गुण सच्चिदानन्द स्वरूप को अभेद भाव से प्राप्त (साक्षात्कार) कर लेता है। श्रीकृष्णजी ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ अर्थात् जो भक्त मुझ सगुण स्वरूप की उपासना अनन्यचित्त से निरन्तर करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि-

योग देता हूँ, उससे वे मुक्त निर्गुण परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उसका अभेद भाव से ज्ञान कर लेते हैं अर्थात् उसका अभेद भाव से ज्ञान कर लेते हैं। भक्ति नव प्रकार की होती है जैसे—श्रवणं कीर्तनं विष्णु स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥ अर्थात् विष्णु भगवान की कथा का श्रवण, उनका कीर्तन, उनके नाम का स्मरण, उनके सम्बन्धी तीर्थों का सेवन, उनकी प्रतिमा का पूजन करना तथा उनकी वन्दना करनी और दास एवं सखा भाव से उनमें श्रद्धा करनी॥ ५८॥

——

उपदेश का उपसंहार।

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रीय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यतेपातकराशिभिः क्षणात्॥ ५९॥

पदच्छेदः—रहस्यम, एतत्, श्रुतिसार संग्रहम्, मया, विनिश्चित्य, तव, उदितम्, प्रिय। यः, तु, एतत्, आलोचयति, इह, बुद्धिमान्, सः मुच्यते, पातकराशिभिः, क्षणात्॥ ५९॥

अन्वयः—	अर्थ—
प्रिय	=हे प्रिय !
श्रुतिसार सङ्ग्रहम्	=श्रुतियों के सार संग्रह रूप
एतत्	=यह
रहस्य	=रहस्य
मया	=मेरे द्वारा
विनिश्चित्य	=निश्चय करके
तव	=तुम्हारे लिए
उदितम्	=कहा गया।
यः	=जो
बुद्धिमान्	=बुद्धिमान्
एतत्	=इसका
आलोचयति	=मनन करता है
सः	=वह
इह	=इस संसार में
क्षणात्	=तत्काल
पातकराशिभिः	=सम्पूर्ण पापों से
मुच्यते	=छूट जाता है।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि हे प्रिय लक्ष्मण! सम्पूर्ण श्रुतियों (उपनिषदों) के सार का संग्रह करके यह गोपनीय रहस्य (आत्म-ज्ञान) मैंने निश्चय करके तुमसे कहा। जो बुद्धिमान पुरुष इसका मनन तथा निदिध्यास करेगा, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा। श्रीकृष्ण जी ने भी अपने प्रिय भक्त अर्जुन

के प्रति कहा है—अपि चेदीसर्वेभ्यः पापेभ्य पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञान ह्यवेनैववृजिनं संतरिष्यति ॥ अर्थात् हे अर्जुन! इस संसार में यदि तू सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करने वाला (पापी) है, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से शीघ्र ही सम्पूर्ण पापों से तर जायगा ॥ ५९ ॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥ ६० ॥

पदच्छेदः—भ्रातः, यत्, इदम्, परिदृश्यते, जगत्, माया. एव, सर्वम्, परिहृत्य, चेतसा। मत्. भावनाभावित शुद्ध मानसः सुखी, भव, आनन्दमयः, निरामयः ॥ ६० ॥

अन्वयः—	अर्थ—
भ्रातः	=हे भाई
यत्	=जो
इदम्	=यह
जगत्	=जगत्
परिदृश्यते	=दिखलायी देता है,
तत्	=(वह)
सर्वम्	=सब
माया एव	=मायाही है।

एतत्	=(इसको)
चेतसा	=चित्त से
परिहृत्य	=निकाल कर
मत्	=मेरी
भावनाभावित शुद्ध मानसः	=भावना के द्वारा शुद्ध चित्त,
सुखी	=सुखी,
आनन्दमयः	=आनन्द स्वरूप
च	=(और)
निरामयः	=क्लेश रहित
भव	=हो जा।

भावार्थ—हे भाई! जो यह नाना नामरूपात्मक जगत दिखलायी देता है, वह मायामात्र मिथ्या है। इसे चित्त से निकाल कर अर्थात् मिथ्या समझ कर मेरे सगुण स्वरूप के ध्यान द्वारा शुद्ध चित्त, (अर्थात् सांसारिक वासनाओं से रहित) सुखी (अर्थात् काम, क्रोधादि जनित दुःखों से रहित) आनन्द स्वरूप (अर्थात् अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का बोध) और क्लेश रहित (अर्थात्, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिमानवेश, इन पाँच दुःखों के सहित) हो जा ॥ ६० ॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम् ।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकन्त्रितयं यथा रविः ॥ ६१ ॥

पदच्छेदः—यः, सेवते, माम्, अगुणम्, गुणात्, परम्, हृदा, कदा, वा, यदि, वा, गुणात्मकम्। सः, अहम्, स्वपादाञ्चित-रेणुभिः, स्पृशन्, पुनाति, लोकत्रितयम्, यथा, रविः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—	अर्थ——
यः	=जो पुरुष
हृदि	=हृदय में
माम्	=मुझ
गुणात्परम्	=गुण रहित
अगुणम्	=निर्गुण को
वा	=अथवा
यदि वा	=यदि
मम +	=(मेरे)
गुणात्मकम्	=सगुण स्वरूप
सेवते	=भजता है;
सः	=वह
अहम्	=मैं हूँ। मेरा स्वरूप है)
सः +	=वह
स्वपादाञ्चितरेणुभिः	=अपने चरण रज से
स्पृशन्	=स्पर्श करता हुआ
यथा रविः	=सूर्य के समान
लोक त्रितयम्	=त्रिलोकी को
पुनाति	=पवित्र कर देता है।

भावार्थ—जो पुरुष अपने हृदय में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार मेरे निर्गुण स्वरूप का चिन्तन करता है और कभी-कभी मेरे सगुण स्वरूप का भी अभेद भाव से ध्यान करता है; (क्योंकि वह जानता है कि मेरा शुद्ध निर्गुण स्वरूप ही अचिन्त्य शक्ति माया के द्वारा राम, कृष्णादि के रूप में दिखलायी देता है) वह मेरा ही रूप है। अपने चरण-धूरी के स्पर्श से सूर्य के समान तीनों लोकों को पवित्र कर देता है।

भगवान अभेद भाव से उपासना करने वाले ज्ञानी को अपना स्वरूप इसलिए कहते हैं कि उनका यह नियम ही है कि—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। अर्थात् हे अर्जुन! जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ इस नियम के अनुसार जो उन्हें स्वामी भाव से भजते हैं उन्हें वे अपना दास और जो अभेद भाव से भजते हैं (जानते) हैं, अपना रूप ही जानते हैं, श्रीमद्भागवद्गीता में कहा है—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। अर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त ऐकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियोहि ज्ञानिनीत्योर्थमहंस च ममप्रियः ॥ २ ॥ उदाराः सर्वएवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ३ ॥ अर्थात् हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं; एक तो अर्ति जो दुःख पड़ने पर; जैसे—गजेन्द्रादि; दूसरे अर्थार्थी अर्थात् धन के लिये, जैसे—सुदामादि; तीसरे जिज्ञासु अर्थात् यह जानने के लिए कि भगवान क्या हैं? और चौथे ज्ञानी, जो हृदय से सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग कर के मुझमें अपना आत्मा जान

कर एकी भाव से स्थित रहते हैं, जैसे—शुक, जड़भरत, दत्तात्रेय, वामदेवादि। इन चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी 'एक भक्तिः' अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, इस सिद्धान्त को श्रेष्ठ मान कर इसमें नित्ययुक्त (निरन्तर स्थित) रहता है; अतः वह मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसके लिए मैं प्रिय हूँ, क्योंकि अपना आत्मा किसी को भी अप्रिय नहीं होता। यों तो मेरे सभी भक्त उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही माना गया है क्योंकि वह शुद्ध चित्तवाला मुझमें एकी भाव से स्थित है ॥ १-२-३ ॥ इस ज्ञानी पुरुष के विषय में कहा है—कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। अपार संवित सुख सगरेऽस्मिन लीने करे ब्रह्मणि यस्य चेताः ॥ अर्थात् जिस ज्ञानी पुरुष का चित्त इस अनन्त सुख के सागर चेतन परब्रह्म में लीन हो गया; उसका कुल पवित्र हो गया और उसकी माता कृतार्थ हो गयी एवं जिस पृथ्वी पर वह पैर रखता है, वह पुण्यवती हो गयी।

और भी कहा है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दन वनं सर्वेंपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्त वारि निवहाः पुण्याःसमस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुति शिरो वाराणसी मेदिनी
यस्मिन्संवित्सागरेपिसततं लीने परे ब्रह्मणि ॥ १ ॥

अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष सच्चिदानन्द परब्रह्मरूपी सागर में निरन्तर लीन रहता है, उसके लिये सम्पूर्ण जगत् नन्दन वन हो जाता है और एरण्ड, बबूर, आदि सभी वृक्ष कल्पतरु के समान सुख देते हैं; कूप, तालाव, वावली, आदि के जल गंगजल के तुल्य और उसके सभी शुभाशुभ कर्म पुण्यरूप हो जाते हैं; इसकी वाणी

संस्कृत भाषा हो या प्राकृतिक, वह वेद-ऋचा और सम्पूर्ण पृथ्वी काशी के तुल्य हो जाती है ॥ १ ॥ भीष्म जी ने भी महाभारत में युधिष्ठिर के प्रति कहा है—

स्नान्ते तेन समस्त तीर्थ सलिले दत्ता च सर्वाऽवनि-
र्यज्ञानां च कृताः सहस्रमखिलाः देवाश्च सम्पूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धताः स्वपितरास्त्रैलोक्य पूज्यप्यसौ
यस्य ब्रह्म विचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥ १ ॥

अर्थात् जिसका मन ब्रह्म के विचार में क्षणमात्र भी स्थिर हो गया, उसने सम्पूर्ण तीर्थों के जल में स्नान; सम्पूर्ण पृथ्वी का दान; हजारों यज्ञों का समूह; समस्त देवताओं का पूजन और इस संसार से अपने पितरों का उद्धार कर चुका तथा वह पुरुष त्रिलोकी में पूजनीय है ॥ ६१ ॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम् ।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ॥ ६२ ॥

पदच्छेदः—विज्ञानम्, एतत्, अखिलम्, श्रुतिसारम्, एकम्, वेदान्त वेद्य चरणेन, मया, एव, गीतम् । यः, श्रद्धया, परिपठेत् गुरुभक्तियुक्तः, मत्, रुपम् ऐति, यदि, मत्, बचनेषु, भक्तिः ॥६२॥

अन्वयः— अर्थ—

एतत् =यह
एकम् =अद्वितीय

विज्ञानम् =विज्ञान
श्रुतिसारम् =श्रुतियों की सार है
एतत् -।- =(इसे)
वेदान्तवेदचरणेन =वेदान्त वेद पाद
मया एव =मैं नहीं
गीतम =कहा
यः =जो
गुरुभक्तियुक्तः =गुरुभक्ति से युक्त हुआ
एतस्या -।- =(इसका)
परिपठेत् =पाठ करेगा
च -।- =(और)
तस्य -।- =(उसकी)
मत् =मेरे
वचनेषु =वचनों में
भक्तिः =प्रीति होगीः (तो)
मत् =मेरा
एव -।- =(ही)
रूपम् -।- =रूप
एेति =हो जायगा।

भावार्थ—यह अद्वितीय विज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) सम्पूर्ण श्रुतियों का सार है, क्योंकि जीव और ब्रह्म की एकता ही समस्त श्रुतियों का सिद्धान्त है। इस विज्ञान को वेदान्त के द्वारा जानने योग्य पादस्वरूप मैंने ही कहा। भगवान को पाद स्वरूप

श्रुति ने कहा है, जैसे—पादोऽस्यविश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि: त्रिपादूर्ध्व उदैति पुरुषः पादोस्पेहाभवत्पुनः। अर्थात् इस भगवान का एक पाद स्वरूप मायामय सोपाधिक हुआ प्राणियों के समूह भूत इस विश्वरूप से और शेष तीन पादरूप निरूपाधिक अमृत (शुद्ध मुक्त) स्वरूप से दिव्य अज्ञो कक्ष) धाम में है वह पुरुष इस निरूपाधिक तीन पादरूप से ऊपर (सब से परे) उदय (प्रकाशित) है, वही फिर सोपाधिक रूप एक पाद से इस विश्व के आकार में होता है। भगवान के निर्गुण स्वरूप को ही धाम, दिवि, वैकुण्ठ, साकेत, कैलाश, इत्यादि नाम श्रुतियां में वर्णित हैं। फिर भगवान कहते हैं कि—जो गुरुभक्ति से युक्त पुरुष इस ग्रन्थ (रामगीता) का पाठ करेगा और उसका यदि मेरे वचनों में प्रेम होगा, तो वह मेरा ही स्वरूप हो जायगा। इस ग्रन्थ में गुरु भक्ति के लिए वारवार निर्देश किया गया है एवं और आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में गुरु की महती महिमा का वर्णन किया है जैसे—अनेक जन्म संस्कारात्सद्गुरु सेव्यते बुधैः। सन्तुष्टो श्रीगुरुर्देवो आत्म रूपं प्रदर्शयेत्॥ अर्थात् अनेक जन्मां के पुण्योदय से बुधजन सद्गुरु की सेवा करते हैं तब वे गुरु देव प्रसन्न हो कर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करा देते हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी कहा है—गुरु विनु भवनिधि तरै न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई॥ क्योंकि श्रुति युक्ति, प्रमाण, दृष्टान्तादि अनेक उपायों के द्वारा जीव के हृदयगत अनादि काल के अज्ञान को दूर करने में एक मात्र सद्गुरु ही समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त भगवान का वचन जो यह रामगीता शास्त्र है, उसमें प्रेम रख कर गुरु द्वारा विचार करने से आत्म ज्ञान शीघ्र ही होता है। क्योंकि मनुष्यों के

उपदेश में तो अनेक दोषों की सम्भावना भी हो सकती है, जैसे—रागद्वेष पूर्वक लोकों को बहकाने के लिए असैद्धान्तिक विषयों का उपदेश सुने हुए ज्ञान की विस्मृति या उसको उलटा समझ लेना अथवा उसमें संशय का हो जाना इत्यादि। परन्तु मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ भगवान राम के उपदेशों में इन दोषों की सम्भावना हो ही नहीं सकती, अतएव इसमें दोष बुद्धि करनी महापाप है। मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि इस रामगीता शास्त्र का पठन-पाठन, मनन आदि कर के रामरूप हो जायं॥ ६२॥

इति श्रीमद्स्वमिना रामाश्रेण विरचिता श्रीद्मध्यात्म रामायणोत्तरकाण्डान्तर्गता पदच्छेदान्वयार्थ भावार्थसंयुता
श्री राम-गीता सम्पूर्णम्।

———

मुद्रक—
राजित सिंह,
श्रीकृष्ण प्रेस, बुलानाला, काशी।

